विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७७ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन : २४५८९

अनुक्रमणिका

—। ० ।—

कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(वराहनगर मठ, कलकत्ता में १८८७)

मुद्रणस्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १५] जुलाई–अगस्त–सितम्बर [अंक ३
★ १९७७ ★

दुःख का मूल कारण

अध्यासदोषात् पुरुषस्य संसृति-
रध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।
रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो
जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥

——अध्यास-दोष से ही पुरुष को जन्म-मरणरूप संसार होता है और यह अध्यास का बन्धन इस (मन) का ही कल्पित किया हुआ है। रज-तम आदि दोषयुक्त अविवेकी पुरुष के लिए यह (अध्यास) ही जन्मादि दुःख का मूल कारण है।

——विवेकचूड़ामणि, १७९

'मैं' हटे कि जंजाल कटे

किसी तपोवन में एक महात्मा रहा करते। वे बड़े पहुँचे हुए थे। लोग दूर दूर से उनके पास आते और अपने अपने ढंग से उनकी सेवा करते। एक व्यक्ति उनकी बड़ी सेवा करता। उसकी भक्ति और निष्ठा देख महात्मा उस पर प्रसन्न हो गये और उससे एक वरदान माँग लेने को कहा। वह सेवक बोला, "महाराज, जब आप मुझ पर इतने प्रसन्न हैं, तो कृपया मुझे प्रेत सिद्ध करने का मंत्र सिखा दीजिए। मैंने सुना है कि आप प्रेतसिद्ध हैं और आपने कई प्रेतों को अपने अधीन कर रखा हैं।" महात्मा ने पूछा, "प्रेत तो बड़े खतरनाक होते हैं। तुम प्रेत का क्या करोगे? उसे हरदम काम में लगा रखना होता है, नहीं तो वह तुम्हीं को खत्म कर देगा।" सेवक बोला, "महाराज, मेरे पास बहुत से काम हैं। प्रेत के लिए काम की कोई कमी न होगी। आप कृपा करें।" महात्माजी ने सेवक को समझाने की बहुत कोशिश की, पर सेवक विनयपूर्वक उनसे प्रेतसिद्धि का ही मंत्र माँगता रहा। अन्त में विवश हो महात्माजी ने उसे प्रेत सिद्ध करने का मंत्र सिखा दिया और पुनः चेतावनी दी, "देखो, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि प्रेत को वश में रखना बड़ा कठिन है। पर तुम मानते नहीं हो। मैं वचनबद्ध हूँ, इसलिए तुम्हें मैंने मंत्र सिखा दिया है और उसे सिद्ध करने का उपाय भी बता दिया है। अब विवेक से काम लो। भगवान् तुम्हारा मंगल करें।"

सेवक अपनी उत्कण्ठा दबा न सका। उसने विधिवत् मंत्र सिद्ध किया। तत्क्षण एक प्रेत सामने प्रकट हो गया और सेवक से बोला, "कहो, क्या चाहते हो ? मुझे क्यों बुलाया ? याद रखो, मुझे हरदम काम में लगाकर रखो। जिस क्षण मुझे काम नहीं दे सकोगे, उसी क्षण तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूँगा।" सेवक के पास बहुत से काम थे। उसने प्रेत को एक काम दिया। उसने सोचा था कि वह करने में प्रेत को काफी समय लग जायगा। पर जब उसने देखा कि कुछ ही क्षणों में काम पूरा कर प्रेत उसके सामने खड़ा हो दूसरा काम माँग रहा है, तब तो वह बड़े अचरज में पड़ गया। उसने उसे दूसरा काम दिया। प्रेत ने उसे भी चन्द मिनटों में कर दिया। अब तो सेवक घबड़ाया। वह एक एक काम प्रेत को सौंपता और प्रेत उसे कुछ क्षणों में पूर्ण कर नया काम माँगने सेवक के सामने खड़ा हो जाता। सेवक का मस्तिष्क भय के मारे चकराने लगा। प्रेत डपटकर बोला, "झट मुझे काम बताओ, नहीं तो तुम्हारी गर्दन मरोड़ता हूँ।" सेवक घिघियाकर बोला, "मुझे सोचने के लिए तो थोड़ा समय दो।" पर प्रेत न माना। वह सेवक की गर्दन की ओर अपने हाथ बढ़ाने लगा। इतने में सेवक चिल्ला उठा, "अच्छा, रुको, मुझे महात्माजी के पास ले चलो।" प्रेत ने उसे उठा लिया और चट महात्माजी के पास पहुँचा दिया। सेवक दौड़कर महात्माजी के चरणों पर गिर पड़ा और रिरियाता हुआ बोला, "महाराज, रक्षा

कीजिए ! बचाइए !!" उसने महात्माजी को सारी बात कह सुनायी। उन्होंने सेवक के हाथ में एक खमदार बाल देकर कहा, "जाओ, प्रेत से कहो कि वह इस बाल को सीधा कर दे।" प्रेत ने उस घुँघराले बाल को सीधा करने में दिन और रात बिता दिये, पर वह सफल न हो सका। भला खमदार बाल को वह सीधा कर भी कैसे सकता था ? बाल वैसा ही घुँघराला बना रहा।

मनुष्य का अहंकार भी इस खमदार बाल के समान है। थोड़ा देर के लिए वह नहीं-सा हुआ मालूम तो पड़ता है, पर दूसरे क्षण पता नहीं कैसे फिर से आ खड़ा होता है। यह अहं ही ईश्वर-लाभ में बाधक होता है। भगवान् के द्वार पर यह अहं का खूँटा गड़ा हुआ है। इसे बिना लाँघे भगवान् के दरबार में नहीं जाया जा सकता। अहं के त्याग के बिना ईश्वर की कृपा नहीं होती। यह 'मैं' ही तो सारी मुसीबत का कारण है। सारे बखेड़े यही खड़े करता है। इस 'मैं' के दूर होने पर ही जंजाल से मुक्ति मिलती है।

•

मुक्ति होगी कब ? अहंकार दूर होगा जब।
जब दूर होगा अहंकार, तभी होगा निस्तार।

——श्रीरामकृष्ण

अग्नि-मंत्र

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

कल्याणीय,

तुम लोगों के एक पत्र में बहुत समाचार ज्ञात हुए। किन्तु उसमें सब लोगों का विशेष समाचार नहीं है। निरंजन के पत्र से पता चला कि वह लंका जा रहा है। सारदा जो कुछ कर रहा है, वही मेरा अभिमत है; परन्तु श्रीरामकृष्ण परमहंस अवतार हैं, इत्यादि प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जगत् के हित के लिए उनका आविर्भाव हुआ था, अपने ख्याति-विस्तार के लिए नहीं, तुम्हें इसे हमेशा स्मरण रखना चाहिए। शिष्यवर्ग गुरु की ख्याति करता है, किन्तु जिस बात की शिक्षा देने के लिए उनका आविर्भाव हुआ था, उसे वह एकदम त्याग देता है और उसका फल होता है दलबन्दी इत्यादि। आलासिंगा ने चारु के विषय में लिखा है। लेकिन मुझे उसका स्मरण नहीं। उसके विषय में सब कुछ लिखो और उसे मेरा धन्यवाद दो। सभी के विषय में विस्तारपूर्वक लिखो; मेरे पास बेकार की बातों के लिए समय नहीं है।... कर्मकाण्ड को त्यागने का प्रयास करना, वह संन्यासी के लिए नहीं है। जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो, तभी तक कर्म आवश्यक है। दलबन्दी, गुटबन्दी, कूपमण्डूकता में मैं नहीं हूँ, चाहे और कुछ भी

मैं क्यों न करूँ। रामकृष्ण परमहंस के सार्वलौकिक विचारों का उपदेश तथा उसी समय सम्प्रदाय का निर्माण असम्भव है। एकमात्र परोपकार को ही मैं कार्य मानता हूँ, बाकी सब कुकर्म है। इसीलिए मैं भगवान् की शरण लेता हूँ। मैं वेदान्ती हूँ, मेरी अपनी आत्मा का महान् रूप सच्चिदानन्द है, उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा ईश्वर मेरी दृष्टि में प्रायः नहीं दिखायी दे रहा है। अवतार का अर्थ है जीवन्मुक्त, अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मत्व प्राप्त किया है। अवतारविषयक और कोई विशेषता मेरी दृष्टि में नहीं है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सभी प्राणी समय आने पर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करेंगे। उस अवस्था-विशेष की प्राप्ति में सहायक बनना ही हमारा कर्तव्य है। इस सहायता का नाम धर्म है, बाकी अधर्म है। इस सहायता का नाम कर्म है; शेष कुकर्म है, मुझे और कुछ नहीं दिखायी दे रहा है। विभिन्न प्रकार के तांत्रिक अथवा वैदिक कर्मों के द्वारा भी फल की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उससे केवलमात्र व्यर्थ में ही जीवन नष्ट हो जाता है—क्योंकि पवित्रतारूप कर्म-फल की प्राप्ति एकमात्र परोपकार से ही सम्भव है। यज्ञादि कर्मों से भोगादि की प्राप्ति सम्भव हैं, किन्तु आत्मा की पवित्रता असम्भव हैं। संन्यास लेकर जीव की उच्च गति की शिक्षा न देकर निरर्थक कर्मकाण्ड में रत रहना, मेरी राय में दूषणीय हैं।... प्राणिमात्र की आत्मा में सब कुछ विद्यमान हैं। जो अपने को मुक्त कहता है, वही मुक्त होगा और

जो यह कहता है कि मैं बद्ध हूं, वह बद्ध ही रहेगा। मेरे मतानुसार अपने को दीन-हीन समझना पाप तथा अज्ञता है। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।*** **अस्ति ब्रह्म वदसि चेदस्ति भविष्यसि, नास्ति ब्रह्म वदसि चेन्नास्त्येव भविष्यसि।**† जो सदा अपने को दुर्बल समझता है, वह कभी भी शक्तिशाली नहीं बन सकता; और जो अपने को सिंह समझता है, वह **निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी।**‡ दूसरी बात यह है कि श्रीरामकृष्ण परमहंस किसी नवीन तत्त्व का प्रचार करने के लिए आविर्भूत नहीं हुए थे, किन्तु उसे प्रकाश में लाना उनका उद्देश्य था। अर्थात् He was the embodiment of all past religious thoughts of India. His life alone made me understand what the shastras really meant and the whole plan and scope of the old shastras !§

मिशनरियों का उद्देश्य इस देश में सफल न हो सका। भगवदिच्छा से यहाँ के लोग मुझसे स्नेहभाव

---

* दुर्बल व्यक्ति इस आत्म-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

† यदि कहो कि ब्रह्म--आत्मा--है, तो अस्तिस्वरूप हो जाओगे और यदि कहो कि ब्रह्म--आत्मा--नहीं है, तो नास्तिस्वरूप हो जाओगे।

‡ पिंजरे में सिंह की तरह वह इस जगद्रूपी जाल को भेदकर निकल जाता है।

§ वे भारत का समग्र अतीत धार्मिक भावनाओं के मूर्त विग्रह-स्वरूप थे। प्राचीन शास्त्रों का यथार्थ तात्पर्य क्या है और उनकी रचना किस प्रणाली के अनुसार तथा किस उद्देश्य से हुई, इन तत्त्वों को मैं उनके जीवन से ही हृदयंगम कर सका हूँ।

रखते हैं, ये किसी की बातों में आनेवाले नहीं हैं। मेरे ideas (विचारों) को ये लोग जितना अधिक समझते हैं, उतना मेरे देशवासी भी नहीं समझ पाते। फिर ये लोग अत्यन्त स्वार्थी भी नहीं हैं। यानी जब कोई कार्य करना होता है, तब ये लोग jealousy (ईर्ष्या) तथा बड़प्पन आदि भावनाओं को अपने पास नहीं फटकने देते। इस समय सब लोग मिल-जुलकर किसी योग्य अनुभवी व्यक्ति के निर्देशानुसार कार्य करते हैं। इसी से ये लोग इतने उन्नत हैं। किन्तु ये लोग 'धनदेवता' के उपासक हैं, हर बात में पैसे का ही प्राधान्य है। हमारे देश के लोग धन के विषय में अत्यन्त उदार हैं, किन्तु इन लोगों में उस प्रकार की उदारता नहीं है, सर्वत्र कंजूसी है और इसे धर्म माना जाता है। किन्तु अनुचित आचरण करने पर उन्हें पादरियों के चक्कर में आना पड़ता है, तब धन देकर स्वर्ग पहुँचते हैं! ऐसी घटनाएँ प्रायः सभी देशों में समान हैं, इसी का नाम है—— priest-craft (पुरोहित-प्रपंच)। मैं कब तक भारत लौटूँगा अथवा नहीं——इस बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। मेरे लिए तो यहाँ भी भ्रमण करना है और वहाँ भी। किन्तु यहाँ पर हजारों व्यक्ति मेरी बातें सुनते हैं, समझते हैं——हजारों व्यक्तियों का भला होता है, मगर क्या यही चीज भारत के विषय में कही जा सकती है? मैं सारदा के कार्यों से पूर्णतया सहमत हूँ। उसे शतशः धन्यवाद! मद्रास तथा बम्बई में मेरे मनोनुकूल अनेक व्यक्ति हैं। वे विद्वान् हैं तथा

सभी बातों को समझते हैं, साथ ही दयालु भी हैं, अतः परहितचिकीर्षा क्या वस्तु है--यह भलीभाँति समझते हैं।...मेरे जीवन की अतीत घटनाओं की पर्यालोचना से मुझे किसी प्रकार का अनुताप नहीं होता। लोगों को कुछ न कुछ शिक्षा देते हुए मैंने विभिन्न देशों का पर्यटन किया है और उसके बदले रोटियों के टुकड़ों से अपनी उदरपूर्ति की है। यदि मैं यह देखता कि लोगों को ठगने के सिवाय मैंने और कुछ भी कार्य नहीं किया है, तो आज स्वयं अपने गले में फाँसी लगाकर मैं मर जाता। लोगों को शिक्षा देने में जो अपने को अयोग्य समझते हैं, ऐसे लोग शिक्षकों का चोगा पहनकर क्यों दूसरों को ठगकर अपना पेट भरते हैं? क्या यह महापाप नहीं है?...इति।

तुम्हारा,
नरेन्द्र

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

पति द्वारा छोड़ दी गयी या बालविधवा महिलाओं के दुःख-कष्ट की बात सुन माँ को पीड़ा होती। वैधव्यव्रत संन्यास धर्म के समान ही बहुत महान् है, वह उन्नत समाज का चूड़ामणि है। पर इसके लिए उचित शिक्षा तथा साधना के द्वारा तैयार होना पड़ता है। माँ, अपनी दुर्बल सन्तानों को इस सर्वश्रेष्ठ आदर्श की शिक्षा देने के लिए ही क्या 'पवित्रतास्वरूपिणी' के रूप से तुम्हारा आविर्भाव हुआ है? भोग वास्तव में सुख का कारण नहीं, अपितु दुःख का ही हेतु है, संयम और त्याग सुख-शान्ति पाने का एकमात्र उपाय है, यह बात यदि तुम न सिखाओ तो और कौन सिखाएगा, माँ? अपनी सन्तानों को तो तुमने यही सिखाया है, माँ! बेलूड़मठ का निर्माण हो जाय इसके लिए तुमने ठाकुर से व्याकुल होकर प्रार्थना की थी। निवेदिता स्कूल, जगदम्बा आश्रम आदि की स्थापना तो तुमने स्वयं अपने हाथों से की। आशीर्वाद दो, माँ, जिससे हम तुम्हारी शिक्षा को न भूलें।

इस प्रसंग में हमारी माँ के घर के अनाथ चरवाहे लड़के गोविन्द की बात याद आ रही है। माँ का नया मकान बनने के पश्चात् उन्हें दूध का कष्ट न हो इसलिए ज्ञानानन्द महाराज दो अच्छी गायें खरीद लाये हैं। श्री सुरेन्द्रनाथ गुप्त ने गायों का व्यय भार ग्रहण किया है। माँ संसार में रहकर भी संन्यासिनी हैं, कोई झंझट बढ़ाना

उन्हें पसन्द नहीं। यहाँ तक कि अपने लिए एक घर बनाये जाने की इच्छा भी उनके मन में न हुई। पहले वे जब मायके जातीं, तो बड़े मामा प्रसन्न मुखर्जी के घर पर ही ठहरा करतीं। वहीं जगद्धात्री पूजा भी हुआ करती। राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) माँ के घर आकर उसी मकान में ठहरे थे तथा सुना है कि वहाँ उन्होंने आनन्द में विभोर हो गीत गाये थे, नृत्य किया था। मामा लोगों ने अलग होकर अपने अपने पृथक् मकान बनवा लिये। काली मामा ने दीदी (श्री माँ) की सहायता से सुन्दर बैठकखाना वाला मकान बनवाया। उसके बाद से उनके ही बैठकखाने में जगद्धात्री पूजा होती तथा अतिथिगण भी वहीं रहा करते। भक्त सन्तानों का आवागमन बढ़ने लगा। माँ को काली मामा के मकान में बड़ी असुविधा होने लगी। सारदानन्द महाराज की सम्मति तथा भक्तों के प्रयत्न से, मामा लोगों द्वारा दिये गये जमीन के छोटे से टुकड़े पर माँ की आज्ञा और आशीर्वाद ले, मिट्टी की दीवाल पर घास का छप्पर डाल कर चार कमरों का एक छोटा सा नया मकान माँ के लिए बनाया गया। मास्टर महाशय ने विशेष रूप से आर्थिक सहायता की। श्री विभूतिबाबू गृहनिर्माण-कार्य की देखरेख करते। पर वे बाँकुड़ा में रहते थे, नौकरी करते थे, अतः सब समय उनका वहाँ उपस्थित रहना सम्भव न हो पाता। देखरेख के अभाव में मकान का काम आगे बढ़ नहीं पा रहा था। इसी बीच माँ की जन्म-

तिथि के उपलक्ष में कलकत्ते से रासविहारी महाराज त । हेमेन्द्र महाराज सामान आदि ले वहाँ पहुँचे । इन लोगों के जी-तोड़ परिश्रम से ही नये मकान का निर्माण सम्भव हो पाया । कोयालपाड़ा आश्रम के अध्यक्ष श्री केदारनाथ माँ के विश्वासपात्र और अनुभवी सन्तान थे । उन्होंने मकान का नक्शा बना दिया था । विशेष समा- रोह-पूर्वक गृहप्रवेश हुआ । सब आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध कर माँ के सुख-सुविधापूर्वक रह सकने की व्यवस्था ई । पर माँ बड़े मामा के उस गली के भीतर आड़ में अवस्थित पुराने अन्धकारपूर्ण घर को छोड़, रास्ते के ऊपर बने, सबकी आँखों में पड़ने वाले इस उजाले भरे, सजे-सजाए नये मकान में आने से हिचकिचाने लगीं। कुछ दिन बीते । उत्साह-जोश थोड़ा ठण्डा पड़ने पर भक्त सन्तानों के आग्रह एवं अन्यान्य विभिन्न कारणों से माँ चुपचाप आकर उस घर में रहने लगीं जिससे किसी को खबर न लगे । रासबिहारी महाराज कलकत्ता लौट जाने वाले थे । प्रश्न उठा कि नये मकान का रक्षक कौन होगा ? नवासन से माँ की सेवा के लिए साज-सामान लेकर ज्ञानानन्द प्रायः आया-जाया करते । माँ के प्रति उनकी भक्ति और सेवाभाव देख तथा माँ का भी ज्ञाना- नन्द पर स्नेह-अनुकम्पा देख रासबिहारी महाराज ने उनको ही माँ की सेवा में रखा और स्वयं कलकत्ते लौट गये । ज्ञानानन्द कर्मठ व्यक्ति थे । माँ के घर की उन्नति में लग गये । उनके ही प्रयत्न से पुण्य सरोवर खरीदा

गया और साफ-सफाई कर सुधारा गया। भक्तों के लिए बिस्तर आदि का प्रबन्ध किया गया। सुरेन्द्र बाबू की सहायता से ज्ञानानन्द ने एक गाय खरीदी। ललित बाबू के आग्रह और आर्थिक सहायता से एक औषधालय तथा रात्रिकालीन पाठशाला की भी स्थापना हुई।

माँ आडम्बर एकदम पसन्द नहीं करतीं थीं, पर क्या करें, लड़के जो करना चाहते थे। फिर उसकी आवश्यकता भी थी। लोगों का विशेष उपकार भी हो रहा था। नये घर के आँगन में वर्षा के दिनों में कीचड़ हो जाता था। आँगन को पक्का बनाने का जब प्रस्ताव किया गया तो माँ ने मना कर दिया। गाँव में मिट्टी का मकान ही ठीक है। सब लोग मिट्टी के घरों में ही रहते हैं। तड़क-भड़क से लोगों के मन में ईर्ष्या जागती है, शत्रुता बढ़ती है। पर दो-तीन वर्ष पश्चात् माँ की सम्मति का रास्ता न देखते हुए दरवाजे को पक्का बना दिया गया, मकान की फर्श पक्की कर दी गई। माँ ने कह दिया कि कम से कम मेरे सोने के कमरे की फर्श पक्की न करना——पक्की फर्श पर बैठने में आराम नहीं मिलता, गर्मी में खूब गरम रहती है और ठण्ड में ठण्डी। माँ तो ठेठ गाँव की थीं और उस जमाने की, वे जब-तब बिना आसन बिछाये ही कमरे में, बरामदे में, पैर फैलाकर खाली जमीन पर बैठ जातीं। कमरे की फर्श पक्की तो की गयी पर उस कमरे में माँ फिर रहीं नहीं।

इसके बहुत पहले मलेरिया से पीड़ित होने के कारण

ज्ञानानन्द को जयरामवाटी छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था। वे माँ की एक सन्तान, डाक्टर अघोरबाबू, के घर रहकर चिकित्सा एवं वायु-परिवर्तन के लिए कटिहार गये थे। कुछ दिनों वाद ही उनके लौट आने की बात थी, पर पुलिस ने उन्हें षड्यंत्रकारी राजनैतिक दल का सदस्य होने के सन्देह में रोक रखा। ज्ञानानन्द जब तक रहे, गाय की बड़ी सेवा करते रहे। माँ को उसकी कोई चिन्ता नहीं थी। जयरामवाटी से चले जाने के पश्चात् भी वे सुरेशबाबू के द्वारा गो-सेवा की सारी व्यवस्था करते, यहाँ तक कि एक गोशाला भी खरीदवा दी। पर उनकी अनुपस्थिति में माँ को गाय की विशेष चिन्ता होती तथा कभी-कभी वे बोल उठतीं, "गाय खरीदकर ज्ञान और झंझट वढ़ा गया।"

निस्सन्देह गोविन्द को चरवाहा रखने के पश्चात् गाय की झंझट कम हो गयी थी। छोटी उम्र में ही माँ-बाप के मर जाने से गोविन्द बड़े कष्ट से पला था। उसका चेहरा उसकी दुर्दशा का साक्षी था। उसके एक दूर के सम्बन्धी ने उसे माँ के घर चरवाहे के काम में लगा दिया था। वेतन सामान्य था, पर खाने पीने और रहने का आराम था। रात्रि-पाठशाला में थोड़ा पढ़ना-लिखना सीखने की भी सुविधा थी। गाँव के बहुत से किसान-मजदूर, बच्चे-बूढ़े वहाँ पढ़ने आते। ९-१० साल का यह लड़का अपना काम ठीक ही करता। माँ तथा अन्य लोगों के स्नेह-सहानुभूति में उसके दिन वड़े मजे में

कटते । रात में उसे पढ़ने के लिए वाध्य किया जाता । पर उसमें उसका मन न लगता । कुछ दिनों पश्चात् उसे खाज हो गयी । उपचार की व्यवस्था की गयी, किन्तु विशेष लाभ नहीं हुआ । रोग से पीड़ित होते हुए भी वह अपना काम ठीक किये जाता ।

खाज-खुजली होती ही रहती है, वह ऐसा कोई भयानक रोग है भी नहीं अतः उस ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया । एक दिन रात में गोविन्द को वहुत कष्ट हुआ । अधीर हो वह रोने लगा । गुप्तांगों में खाज खूब बढ़ गयी थी । लज्जा के मारे उसने दिखाया नहीं था । अव रात में कष्ट उसके लिए असह्य हो गया । क्या किया जाय ? उसे समझा-बुझा कर शान्त करने की चेष्टा की गयी । दूसरे दिन सुवह ही देखा गया कि माँ उसे घर के भीतर बुला ले गयी हैं और स्वयं ही सिल–लोढ़े में हल्दी और नीम की पत्ती पीस रही हैं, गोविन्द माँ के पास खड़ा है, माँ हल्दी और नीम की पत्ती पीस कर उसके हाथ में थोड़ा थोड़ा करके दे रही हैं और कैसे लगाना होगा यह वता रहीं हैं, गोविन्द भी उसी प्रकार लगाता जा रहा है । माँ के स्नेह से बालक का मन प्रफुल्ल हो उठा । उसके मुख पर आनन्द छा गया । बालक का रोना सुनकर माँ को रात में नींद नहीं आयी थी । इसीलिए सुवह उठते ही उसकी दवादारू की व्यवस्था में स्वयं जुट गयीं । माँ को पाकर, माँ के स्नेह से मातृहीन बालक का दुःख वहुत कुछ घट गया । माँ

भी बच्चे का प्रसन्न मुख देख हर्षित हो उठीं। दोनों के चेहरे देखकर, बातचीत सुनकर कौन कह सकता है कि वह अपना बेटा नहीं है? 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं' देखना, 'पराये को अपना बना लेना'--इसकी शिक्षा देने के लिए ही तो तुम आयीं थीं, माँ! किन्तु हम लोग देखकर भी अनदेखा कर देते हैं, सीखना तो दूर की बात!

(क्रमशः)

प्रभु पद पीठ रजायसु पाई

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

धर्म की गति बड़ी विलक्षण है। इसे साधारण अर्थों में लेनेवाला व्यक्ति इसके रहस्य को नहीं समझ सकता। भगवान् राम धर्म की जिस व्याख्या को लेकर चलते हैं, उसे रूढ़ि में फँसे समाज के लिए समझना कठिन है। वह तो नाना प्रकार के इच्छित अर्थ लेकर उसकी व्याख्या करने लगता है। धर्म की जो सूक्ष्म गति है तथा इसका जो मूल तत्त्व है, उसे आप श्री भरत के जीवन और चरित्र में अनुस्यूत पाएँगे। उनके जीवन में धर्म अपने वास्तविक रूप में प्रकट है। अयोध्या की सभा में उनके सामने प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया कि वे पिता की आज्ञा मान अयोध्या का राजपाट चलाएँ, तथा इसके पक्ष में उनके सामने बड़े बड़े नाम गिनाये गये, जिन्होंने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की थी। उनसे कहा गया—"देखो! परशुरामजी ने अपने पिता की आज्ञा मान अपनी माता का वध कर दिया। परशुराम तो भगवान् के अंशावतार हैं। क्या उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं है? ययाति के पुत्र पुरु ने पिता की इच्छा पर उनकी वृद्धावस्था स्वीकार कर ली। तुम्हें भी पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए।" श्री भरत बड़े धैर्य से इन सारी बातों को सुनते हैं, वे कहीं कोई कटुता नहीं आने देते। पर वे एक क्षण के लिए भी धर्म के वास्तविक स्वरूप से विचलित

नहीं होते । जब गुरु वसिष्ठ ने परशुराम की पितृभक्ति का उदाहरण दिया, तो उसका श्री भरत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । ठीक है, परशुरामजी अवतार हो सकते हैं, पर इससे उनका प्रत्येक कार्य पूर्ण नहीं माना जा सकता । परशुरामजी की धर्म की व्याख्या को तो लक्ष्मणजी ही अस्वीकार कर देते हैं । परशुरामजी ने भगवान् राम से कहा-- "राघवेन्द्र, मैं तो अपने गुरु का भक्त हूँ । जिसने मेरे गुरु का धनुष तोड़ा है, वह सहस्त्रबाहु के समान मेरा शत्रु है-- "

सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा ।
सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ।। १/२७०/४

यह सुन लक्ष्मणजी ने व्यंग्य किया--"माता-पिता के ऋण से तो आप अच्छी तरह उऋण हो ही चुके, अब गुरु का ऋण ही बाकी है, जिसके लिए इतना सोच है--"

माता पितहिं उरिन भए नीकें ।
गुर रिनु रहा सोचु बड़ जीकें ।। १/२७५/२

लक्ष्मणजी का तात्पर्य था--आपके कुल में उऋण होने की एक ही परम्परा रही है कि जब तक आप किसी का सिर न काटें, ऋण से उऋण नहीं होते । आपके उऋण होने का उपाय किसी को जीवित करना नहीं, मारना है । इसी परम्परा के अनुकूल आप फरसा लेकर यहाँ भी आ पहुँचे हैं । तो चला दीजिए फरसा ?

कई लोग लक्ष्मण और परशुराम के संवाद को क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष के रूप में देखते हैं, पर यह जातिगत संघर्ष नहीं,

दो विचारधाराओं का, दो दर्शनों का संघर्ष है। लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह था कि आपने वस्तुतः कभी अपनी ओर नहीं देखा। आपने जिसे धर्म मानकर व्याख्या की, वह धर्म की अधूरी व्याख्या थी। आपने यह मान लिया कि शंकर का धनुष तोड़नेवाला अपने को शंकरजयी मान रहा है। पर श्रीराम ने जो कहा कि शंकर के धनुष को तोड़नेवाला शंकरजयी नहीं वरन् उनके दास का दास है--आप इसे नहीं समझ पाये। लक्ष्मणजी ने व्यंग्य करते हुए कहा--

एहि धनु पर ममता केहि हेतू। १/२७०/८

--इस धनुष के प्रति इतनी ममता क्यों ? लगता है आप शंकरजी के लिए लड़ने नहीं आये, अपनी ममता के कारण लड़ने आये हैं। अगर शंकरजी का धनुष तोड़ना अनुचित होता, तो सबसे पहले क्रोध शंकरजी को आना था, उन्हें क्रोध नहीं आया। फिर उन्होंने अपना धनुष जनक को दे दिया था। अब तो वह धनुष जनक का था। उसके टूटने पर जनक को दुःख होना चाहिए था। पर शंकरजी और जनक दोनों ही प्रसन्न हुए। उन्होंने धनुष से ममता हटायी और आपने जोड़ी। आपका यह दुःख ममता के कारण है, शंकरजी के प्रति भक्ति के फल-स्वरूप नहीं। आपको लगता है कि मेरा सिर काट कर आप गुरुभक्ति का परिचय देंगे, पर वह आपकी ममता और अपने नाम के प्रति आसक्ति का ही परिचय होगा।

लक्ष्मणजी के इस कथन की सत्यता आगे चलकर प्रकट हो गयी। परशुरामजी ने भगवान् राम से कहा—"या तो मुझसे लड़ो या अपने नाम को छोड़ दो।" भगवान् राम को यह सुन हँसी आयी—यह सारा झगड़ा नाम का ही तो है कि यह नया 'राम' नाम वाला कहाँ से पैदा हो गया? तभी तो लक्ष्मणजी खरे शब्दों में परशुराम से कहते हैं—"महाराज, अपनी ममता की चिकित्सा कीजिए। झगड़ा करने से यह सिद्ध नहीं होगा कि आप बड़े गुरुभक्त हैं। क्या आप हमारे राघवेन्द्र से बड़े शिवभक्त हैं? उनके लिए तो भगवान् शंकर ने धनुष को टूटने के लिए पढ़ा रखा था—"

जनु हुतो पुरारि पढ़ायो। (गीतावली ९३)

—क्या?

धनुष ने एक बार शंकरजी से कहा—'आप सारे संसार को मुक्ति देते रहते हैं, मेरी मुक्ति कैसे होगी? मैं तो सदा गुण से बँधा रहता हूँ।" भगवान् शिव ने कहा—"भगवान् राम जब तुम्हें अपने हाथ में लेंगे, तो ऐसे टूटना कि फिर बँधना न पड़े। उनके हाथ में जाकर भी यदि मुक्त न हुए, तो फिर कभी मुक्त नहीं होगे।" धनुष ने उनकी आज्ञा का पालन किया और टूटकर मुक्त हो गया। लक्ष्मणजी की हँसी का कारण यह था कि वह धनुष, जिसे तोड़ा गया, प्रसन्न है, जिसका धनुष था, वह प्रसन्न है; और जिसे धनुष मिला था वह भी धनुष के भंग से प्रसन्न है; केवल आप ही अप्रसन्न हैं। कहीं आप

धर्म की व्याख्या से अलग तो नहीं जा रहे ? इसका संकेत आगे आता है-- जब परशुरामजी को संशय हुआ, तो उन्होंने श्री राघवेन्द्र से कहा-- "राघवेन्द्र, मुझे संशय हो रहा है कि तुम ईश्वर के अवतार हो।" प्रभु यह सुन चुप रहे। परशुरामजी ने आगे कहा-- "मैं तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता हूँ। यह विष्णु का धनुष है। यदि तुम इसे चढ़ा दो, तो मैं समझ जाऊँगा कि तुम विष्णु के अवतार हो।" परशुरामजी ने धनुष को देने के लिए उठाया, पर भगवान् राम ने उसे लेने के लिए हाथ नहीं बढ़ाया। परशुरामजी को लगा-- मैंने व्यर्थ ही इन्हें भगवान् का अवतार समझा। ये तो हाथ बढ़ाने में ही सकुचा रहे हैं। पर अगले ही क्षण उन्होंने देखा कि धनुष उनके हाथ से निकलकर आप ही आप भगवान् राम के हाथ में जाकर चढ़ गया--

देत चाप आपुहिं चलि गयऊ। १/२८३/८

जब वह धनुष हाथ से निकलने लगा तो परशुरामजी ने घबराकर धनुष की ओर देखा-- तुम मेरे इतने दिनों के साथी, और मुझे त्यागकर भागे चले जा रहे हो ? जबकि सामने वाला हाथ बढ़ा नहीं रहा है ? परशुरामजी के पास दो शस्त्र थे-- एक फरसा और दूसरा धनुष। एक को उन्होंने चलाना चाहा, तो चला नहीं और दूसरे को रोकना चाहा तो रुका नहीं। लक्ष्मणजी ने कहा--"फरसा जब है, तो चलाइये, मेरा सिर काट लीजिए, देरी किस बात की है ?" परशुरामजी ने कहा-- "मैं तुम्हें काट तो

डालता, पर क्या करूँ—

वहइ न हाथु दहइ रिस छाती।
भा कुठारु कुंठित नृपघाती॥ १/२७९/१

न जाने हो क्या गया है ? हाथ चल नहीं रहा है, फरसा कुण्ठित हो गया है। मेरा हृदय जल रहा है। समझ नहीं पा रहा हूँ कि क्या करूँ ?" लक्ष्मणजी ने मन ही मन हँस कर कहा— क्या ही विचित्र बात है कि फरसा मुझे पहचान गया पर आप नहीं पहचान पाये। जड़ पहचान गया, पर चेतन को पहचान न हुई कि मैं शेष हूँ! गणित में सब कुछ कटने के बाद जो बचता है, उसे शेष कहते हैं। आप उस शेष को ही काटने के लिए कह रहे है। आपका फरसा अचेतन होकर भी गणित ठीक जानता है और चेतन होकर भी आप उससे अनभिज्ञ हैं। यह आपका कैसा विवेक है ? परशुरामजी ने क्रोध में कहा— "इतना छोटा लड़का और ऐसी ढिठाई ?" लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा— "महाराज, शेष तो हमेशा विभाजक अंक से छोटा ही होगा। बड़ा होने से वह कट न जायगा ? शेषत्व की अनुभूति नहीं होने के कारण ही आपको यह भ्रम हुआ है।"

शेष का परिचय दिया फरसे ने और ब्रह्म का परिचय दिया धनुष ने। फरसे ने न चलकर और धनुष ने स्वयं प्रभु के हाथ में पहुँचकर परशुरामजी के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि न तो आप चलाने में स्वतंत्र हैं और न रोकने में। रोकनेवाला तो सामने खड़ा है—

माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव ।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव ।। ३/१५

जो बन्धन और मोक्ष देनेवाला है, उसकी आज्ञा चलेगी कि आपकी ? अपूर्ण की आज्ञा तो तब तक चलती है, जब तक पूर्ण नहीं आता है । अतः जब परशुरामजी ने धनुष से कहा-- "तुम अपने आप कैसे चले जा रहे हो ?" धनुष ने कहा-- "महाराज, आप भगवान् के ईश्वरत्व की परीक्षा लेना चाहते हैं, पर ईश्वर तो अपने ईश्वरत्व की परीक्षा देगा नहीं । चाहे मैं इनके हाथ में रहूँ या न रहूँ, ये धनुष चढ़ाकर अपनी परीक्षा नहीं देंगे । इनको मेरी आवश्यकता नहीं है, पर मुझे इनकी आवश्यकता है । अतः मैं तो सिद्ध कर दूँ कि मैं उनका हूँ । इसीलिए उनके हाथ में चला जा रहा हूँ ।" परशुरामजी ने कहा-- "अच्छा, तुम उनके पास गये तो गये, पर चढ़ क्यों गये ?" धनुष ने संकेत किया-- "आपने देखा नहीं ? एक ने ज्यादा अकड़ दिखायी, तो टूटा पड़ा है । मैं भी एक बार टूटूँ और तब सीखूँ, यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?" इस प्रकार धनुष ने परशुराम को एक सत्य की अनुभूति करा दी कि नत होना भी एक गुण है ।

परशुराम अपने युग के एक महापुरुष थे । उन्होंने लोककल्याण के लिए कार्य किया । उनका जीवन नदी के समान था । नदी जीवन देती है, जल देती है, लोगों की रक्षा करती है, पर ऐसा भी होता है कि जब नदी में बाढ़ का प्रकोप होता है तब वह जीवन देने के बदले

मृत्यु का रूप धारण कर लेती है--

घोर धार भृगुनाथ रिसानी।
घाट सुबद्ध राम बर बानी ।। १/४०/४

परशुरामजी भी नदी की धारा के समान आये। उन्होंने समाज को जल दिया, जीवन दिया। पर बाद में इस नदी में बाढ़ आ गयी। जितना क्रोध आवश्यक था, उससे कहीं अधिक क्रोध प्रकट होने लगा। अतः इस नदी की धारा को रोकने के लिये भगवान् राम रूपी बँधे घाट की आवश्यकता हुई। घर के कमरे में आग रहे यह आवश्यक है, पर अगर पूरे घर में आग छा जाय, तब तो वह बड़ा अनर्थकारी होगा। परशुरामजी के क्रोध ने जनकल्याण का कार्य तो किया, पर बाद में उसने अनर्थ--कारी रूप धारण कर लिया। लक्ष्मणजी ने देखा कि क्रोध केवल उनके हृदय में ही नहीं है बल्कि--

हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। १/२७६/६

नख से लेकर शिखा तक क्रोध ही क्रोध व्याप्त है। गुस्से में परशुराम ने कहा-- "राम तोर भ्राता बड़ पापी--राम, तुम्हारा छोटा भाई बड़ा पापी है।" लक्ष्मणजी यह सुनकर बोले--

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। १/२७७/१

"मुनिवर, मैं तो आपका अनुचर हूँ।" लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह था, जैसे सेवक के न रहने पर स्वामी स्वयं बोझ को ढोकर ले जाता है और सेवक के पहुँचने पर अपने सिर का बोझ उसके सिर पर डाल देता है, वैसे ही

महाराज, आपने क्रोध का बोझ वहुत दिनों तक ढोया। अब मैं आपका सेवक आ गया हूँ। कृपया यह बोझ मुझे दे दीजिए और आप विश्राम कर लीजिए।

परशुरामजी की क्रोधरूपी बाढ़ के लिए भगवान् राम मर्यादा की वाँध बनकर आते हैं और फलस्वरूप परशुराम का क्रोध शान्त हो जाता है। भरतजी का तात्पर्य यही था कि यदि हम परशुरामजी के जीवन-दर्शन को अथवा अन्य किसी और व्यक्ति के जीवन-दर्शन को पूर्ण मानकर अपना लें, तो हम भ्रमजाल में पड़ जाएँगे। पुराणों और इतिहास में अनेक महापुरुषों के दृष्टान्त आते हैं तथा उनके चरित्रों में अनेक परस्पर-विरोधी वातें पायी जाती हैं। यदि उनमें से किसी एक को हम यह समझकर अपना आदर्श स्वीकार कर लें कि इनका वड़ा नाम है, तो हो सकता है वह आदर्श हमारे लिए कल्याणकारी न हो। इसीलिए जव गुरु वासिष्ठ ने श्रीभरत के सामने परशुराम और ययाति के पुत्र का दृष्टान्त दिया, तो वह उन्हें ग्राह्य नहीं हुआ। उत्तर में उन्होंने जो वात कही, वह धर्मसार की सच्ची पहचान है। श्री भरत ने गुरु वसिष्ठ और सभासदों से पूछा—"आप लोग मुझे राज्य देने के लिए इतने उतावले हैं, इसका कारण क्या है? आप मेरे भले के लिए राज्य देना चाहते हैं अथवा समाज और राज्य के भले के लिए?"

—"राज्य के भले के लिए?"

—"तो राज्य के भले के लिए एक ऐसे व्यक्ति को राजा

होना चाहिए, जो चोर-डाकुओं से समाज का संरक्षण करे और जो धर्मशील हो"--

कहहु साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू ॥ २/१७८/१

--"हाँ, अवश्य।"

--"और अगर राजा ही स्वयं डाकू हो, तो राज्य की क्या अवस्था होगी?"

--"हम आपको डाकू नहीं, धर्मशील समझकर राजा बनाना चाहते हैं।"

श्री भरत ने कहा--"जो राजा पिता की मृत्यु का कारण हो और जो बड़े भाई को वन भेजकर राज्य का श्री गणेश करे, उसे आप क्या कहेंगे? जिस राज्य का प्रारम्भ इस तरह दूसरों का अधिकार छीनकर, दूसरों को दुःख में डालकर हुआ हो, उसके राजा को अगर डाकू न कहा जाय, तो क्या कहा जाय? आप आशा करते हैं कि हम अधर्मपूर्वक राज्य लेकर धर्मपूर्वक आपका शासन चलाएँगे?"

श्री भरत ने फिर दूसरा मुख्य प्रश्न किया--"यह राज्य किसका है?" मंत्रियों ने कहा--"राज्य महाराज दशरथ का था। उन्होंने राज्य आपको दे दिया, तो वह आपका हो गया। आप भले बाद में श्रीराम को राज्य दे दें।" भरतजी नें इसे एकदम अस्वीकार कर दिया। एक सज्जन ने मुझसे कहा--आखिर भरतजी नें वही तो किया, जो मंत्रियों नें कहा था। वे चित्रकूट गये,

वहाँ से लौटकर राज्य चलाया और भगवान् राम के लौटने पर उन्हें राज्य सौंप दिया। इससे उचित था कि वे पहले ही राज्य स्वीकार कर लेते। साधारण व्यक्तियों को यही लगता है। पर उनके और भरतजी के दृष्टि-कोण में मूलभूत अन्तर है। मन्त्रियों की वात श्रीभरत को एकदम असह्य लगती है। उन्हें लगता है कि ये लोग कितने धृष्ट हैं। जैसे हम किसी की वस्तु को चुरा लें और दूसरे दिन दानी वनकर उससे कहने लगे कि लीजिए, हम उदारतापूर्वक आपको दान दे रहे हैं——तो यह अपराधी का लक्षण है अथवा धार्मिक का ? भरतजी ने राज्य चलाया, पर कव चलाया ? जब वे भगवान् राम से पादुका लेकर लौटे। इस बीच भगवान् राम और श्रीभरत के बीच एक प्रेमभरा कलह होता है। श्रीभरत ने कहा——"आप कहते ही हैं तो मैं अयोध्या लौट जाता हूँ, पर मुझे कोई आधार दीजिए।" भगवान् राम ने उठाकर पादुका दे दी। श्रीभरत ने उसे अपने सिर पर रख लिया। प्रभु ने मुसकराकर श्रीभरत की ओर देखा और कहा——"देखो तो, तुमने मुझसे माँगा आधार और मैंने तुम्हें दे दिया भार !"

——"कैसे ?"

——"पैरों पर पहनते तो आधार होता, तुमने सिर पर रखकर इसे भार बना लिया। हम तो तुम्हें आधार देना चाहते हैं, भार नहीं।" श्री भरत ने कहा——"नहीं प्रभु, आपकी पादुका पाकर वहुत बड़ा लाभ हुआ है।"

—"क्या ?"

—"मैं यह मानता हूँ कि पादुका सिर के लिए नहीं, पद के लिए दी जाती है। पर जब आपने अपनी चरणपादुका दे दी है, तो आपने यह स्वीकार कर ही लिया है कि अयोध्या का राजपद आपका है। अब आप जैसा कहें, वैसा राज्य चला दूँ। मैं तो केवल इतना चाहता था कि आपसे स्वीकृति मिल जाय कि पादुका पद के लिए है और यह पता चल जाय कि राज्य किसका है।"

मन्त्रियों ने जब श्री भरत से कहा कि पिताजी ने राज्य तुम्हें दिया है, तुम चाहो तो बाद में प्रभु को दे सकते हो, तो भरतजी ने दृढ़ता पूर्वक कहा कि राज्य की सत्ता के एकमात्र स्वामी प्रभु है। वे मंत्रियों की बात स्वीकार नहीं करते। वे प्रभु के पास जाते हैं, उनसे स्वीकार करा लेते हैं कि अयोध्या का राजपद उनका है और उनके सेवक के नाते उनकी आज्ञा मान, उनकी पादुका ले अयोध्या लौटते हैं। और लौटकर क्या करते हैं ?—

सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि। २/३२३

—पादुका को ले जाकर सिंहासन पर बैठा देते हैं। धर्म-सार का सूत्र है कि सारी सम्पत्ति एकमात्र श्री प्रभु की है, व्यक्ति केवल प्रभु का आज्ञावाहक है। यह पादुका इस बात की याद दिलाती रहती है कि पद एकमात्र प्रभु का है, अन्य किसी का नहीं। यही तो पदत्राण की विशेषता है, गोस्वामीजी 'दोहावली रामायण' (४८२) में लिखते हैं—

विन आँखिन की पानही पहिचानत लखि पाय।
--अँधेरे में भी यदि जूता पड़ा हो और आप उसमें अपना पैर डालें, तो वह वता देगा कि मैं आपका हूँ या नहीं हूँ। जूते के पास आँखें नहीं होतीं, पर दूसरे का पैर पड़ते ही वह तुरन्त संकेत कर देता है कि हम आपके नहीं हैं। यह बात और है कि आप यह निश्चय कर लें कि हमें इस जूते को अपना वनाना ही है। और ऐसे कुछ लोग होते भी हैं समाज में। पर जूते द्वारा यह सूचना मिल जाती है कि हम आपके नहीं हैं। यदि यह वात याद में रहे कि जिसका पद है, उसी की पादुका है, तो सारा झगड़ा ही मिट जाय। भरतजी ने कहा कि हमें वस यही याद वनी रहे कि सत्ता के एकमात्र अधिकारी प्रभु ही हैं, हम उस पद पर आसीन होने के अधिकारी नहीं, हमें तो केवल उनकी आज्ञा का पालन करना है, सेवक बने रहना है और हमारे लिए यही अभीष्ट है। जब तक हम सत्ता को अपनी मानकर चलेंगे, तब तक हम चाहे कितने भी अच्छे हों, उसका दुरुपयोग किए विना नहीं रहेंगे। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा--

नहि कोउ अस जनमा जग माहीं।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥ १/५९/८

पर भरतजी के जीवन में मद का प्रश्न ही नहीं उठता। मद तो वहाँ आता है, जहाँ व्यक्ति पद को स्वीकार करता है। भरतजी ने पद स्वीकार नहीं किया, पद तो श्री प्रभु का है। उन्होंने प्रभु की पादुका स्वीकार

की, नित्यप्रति पादुकाओं का पूजन किया। सारा राज-काज पादुकाओं से आज्ञा माँग-माँग कर चलाया--

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति ।। २/३२५

प्रभु से आज्ञा लेकर वे सारा कार्य करते, ताकि इस बात की स्मृति बनी रहे कि जो कार्य हो रहा है, वह प्रभु की प्रसन्नता के लिए हो रहा है। और यही भक्त का लक्षण है। वह भगवान् की प्रसन्नता का, उनकी अनुकूलता का अपनी प्रत्येक क्रिया में ध्यान रखता है।

एक प्रसंग आता है--वैसे श्री लक्ष्मण और भगवान् राम परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। पर लक्ष्मणजी बहुधा भगवान् को प्रेरित करते रहते हैं कि प्रभो, आपको व्यवहार में थोड़ा कठोर होना चाहिए, जिससे लोगों में उच्छृंखलता न आ पाये, लोग आपकी स्वभाव की कोमलता का दुरुपयोग करते हैं। अतः यदि प्रभु अपने स्वभाव का परिचय देते हैं, तो लक्ष्मणजी प्रभु के प्रभाव का परिचय देते हैं--वे व्यक्ति को सावधान कर देते हैं कि स्वभाव देखकर प्रभु को गलत न समझ बैठना, इनका प्रभाव बहुत बड़ा है। स्वभाव से अगर समझ जाओ तो ठीक है, नहीं तो प्रभाव तो है ही। एक अवसर ऐसा आया, जब पता चला कि लक्ष्मणजी ऊपर से जितने कठोर दिखायी देते हैं, भीतर से उतने ही कोमल हैं। वर्णन आता है कि जब भगवान् राम समुद्र को मनाने के के लिए प्रार्थना करने बैठे, तो उस समय रावण के भेजे

दो गुप्तचर बन्दरों का वेश बना वानरों की सेना में मिल गये। कोई बन्दर उन्हें पहचान न पाया। भगवान् राम के गुणों को देख वे अपना सारा कपट भूल गए और रावण के साथ प्रभु की तुलना कर प्रभु का गुणगान करने लगे। आसपास के बन्दरों ने जब यह सुना, तो जान गए कि ये रावण के गुप्तचर हैं। उन्हें पकड़कर सुग्रीव के पास लाया गया। सुग्रीव मन में प्रसन्न हुए। प्रभु उस समय समुद्र के किनारे अनशन कर रहे थे। सुग्रीव को प्रसन्नता यह हुई कि भगवान् राम यदि रहते तो पता नहीं ठीक न्याय करते या न करते। पता नहीं उनको दण्ड देते या पुरस्कार देते, क्योंकि सुग्रीव की आँखों के सामने विभीषण जी के आने की घटना घटित हो चुकी थी। जब विभीषणजी आये, तो भगवान् ने सुग्रीव से पूछा कि क्या किया जाय ? सुग्रीव जी ने कहा--

जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥ ५/४२/६-७

--प्रभु, राक्षसों की माया जानना बड़ा कठिन है। न मालूम यह छली किस कारण से आया है। हो सकता है यह हमारा भेद लेने आया हो, अतः इसे बाँध रखना उचित है।

और भगवान् राम ने क्या किया ? वे सुग्रीव से बोले— "मित्र, जब तुम विभीषण पर आरोप लगाने

लगे, तो मैं घबरा गया था, पर जब तुमने दण्ड की व्यवस्था की, तो मैं प्रसन्न हो गया। जब तुमने कहा-- 'जानि न जाय निसाचर माया', तो मुझे बड़ा डर लगा कि तुम बड़ा भारी आरोप लगा रहे हो। तब तुमने कहा-- 'काम रूप केहि कारन आया', तब भी मैं डरा, और जब तुमने कहा-- 'भेद हमार लेन सठ आवा' तब तो और भी भय लगा, पर आगे चलकर जो बात तुमने कही-- 'राखिअ बाँधि मोहि अस भावा'-- तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अगर तुमने कहा होता कि इसे निकाल दीजिए, तो मैं बड़े संकट में पड़ता। तुमने बाँधने के लिए कहा, तो इसका निर्णय मैं ही करूँगा। इसे ऐसा बाँधूँगा कि छूटकर कहीं जाने न पाये।" यह कहकर प्रभु ने विभीषण को भुजाओं से बाँधकर हृदय से लगा लिया और सुग्रीव से बोले-- "लो, तुम्हारी आज्ञा का पालन हो रहा है! ऐसे बन्धन में बाँधा है कि अब छूटकर कहीं जायगा नहीं"--

भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा। ५/४५/२

प्रभु बोले-- "हमारे पास तो कोई किला है नहीं, जहाँ इसे कैद करके रखें। यह हृदय ही ठीक रहेगा। जोइसमें एक बार आ गया, तो निकलकर कहीं जा नहीं सकता। यह तो आजन्म कारावास है!"

श्री सुग्रीव प्रभु की यह लीला देख चुके थे। अतः उन्हें लगा कि यह अच्छा अवसर है जब प्रभु हैं नहीं। तुरन्त वानरों से कहा--

अंग भंग करि पठवहु निसिचर। ५/५१/३

--"इन राक्षसों को तुरन्त नाक-कान काटकर निकाल बाहर करो। नहीं तो प्रभु लौटकर दण्ड देने के बदले न जाने क्या पुरस्कार दे बैठें।" वानरों ने उन्हें पकड़कर चारों ओर घुमाया और पिटाई करने लगे। वे आर्त हो पुकारने लगे--

दीन पुकारत तदपि न त्यागे। ५/५१/५

अनुचरों ने कहा-- "भाई, आप लोग हमें किस बात का दण्ड दे रहे हैं ? जब हम कपटी थे, तब आप हमें पहचान नहीं पाये। और जब हमने प्रभु के स्वभाव को देखकर अपने कपट को त्याग दिया, तो आप हमें दण्ड दे रहे हैं। यह तो ठीक न्याय नहीं।" सुग्रीव ने कहा-- "राजनीति में दुर्बलता या भावुकता से निर्णय नहीं लिया जाता। तुम लोगों को दण्ड अवश्य दिया जायगा।" यह सुन दूत और जोर से आर्तनाद करने लगे। उनके शब्द सुन लक्ष्मणजी ने सबको पास बुलाया। सुग्रीव और प्रसन्न हुए, यह सोचकर कि लक्ष्मणजी तो और कठोर नीति के समर्थक हैं, निश्चय ही वे और भी कठिन दण्ड का विधान करेंगे। पर हुआ क्या ? --

दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए। ५/५१/७

लक्ष्मणजी ने हँसकर वानरों से कहा-- "इनको छोड़ दो।" और उनके हाथ में पत्र देकर वे बोले-- "आज से तुम हमारे दूत हो गये। हमारे दूत बनकर रावण के पास यह पत्र ले जाओ।" जब भगवान् राम लौटकर आये, तो हनुमानजी द्वारा सारा समाचार उन्हें ज्ञात हुआ

कि किस तरह लक्ष्मणजी ने गुप्तचरों को मुक्त कर दिया। प्रभु ने यह सुन लक्ष्मणजी को हृदय से लगा लिया और मुसकराते हुए कहा— "लक्ष्मण, देखो आज तुम्हारा भेद खुल गया। तुम मुझसे तो हमेशा कहते रहे— कठोर बनिए, कठोर बनिए और आज जब मैं नहीं था, तो तुमने वही किया जो मैं करता। लगता है तुम्हें निरन्तर मेरी भावना की चिन्ता बनी रहती है। तुम अपना स्वभाव भले दिखाते कठोर हो, पर तुम्हारे जीवन का एक ही व्रत है और वह यह कि मेरी मर्यादा मिटने न पाए।"

भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि यदि भक्त क्रिया करते समय यह सोचे कि वह भगवान् के अनुकूल कार्य कर रहा है अथवा प्रतिकूल, तो उससे कभी अधर्म और अन्याय नहीं हो सकता। जब मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्णायक मान बैठता है और अपने स्वार्थ को कसौटी, तो उसके धर्म का निर्णय वास्तव में उसके स्वार्थ का निर्णय होता है— धर्म का नहीं। श्री भरत इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे और यही उनका धर्मसार था। वे कर्तव्य से नहीं भागे, जैसा गुरु वसिष्ठ ने अनुमान किया था। उन्होंने कर्तव्य का जैसा पालन किया, वैसा संसार में दूसरा क्या करेगा। उनका तात्पर्य यही था कि कर्तव्य-पालन करने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि उससे लोगों का कल्याण हो रहा है अथवा अकल्याण। मान लीजिए किसी व्यक्ति को तपेदिक हो जाय और वह ऐसा व्रत ले ले कि हम दूसरों को जल पिलाएँगे, तो वह अपना रोग

ही बाँटेगा, सेवा क्या करेगा । और ऐसे बहुत से रोगी लोग सेवा का व्रत ले अपना रोग ही बाँटते हैं ! इनकी संख्या इतनी बढ़ गयी है कि शारीरिक रोग के साथ मानसिक रोगों का भी वितरण करते हैं । भाई, पहले अपने को तो स्वस्थ बना लीजिए, तब फिर दूसरों की सेवा कीजिए ! हम स्वयं अगर स्वार्थग्रस्त हों, वासनाग्रस्त हों, अभिमानग्रस्त हों और अपेक्षा करें कि लोगों को हम धर्मपथ पर चलना सिखाएँगे, तो क्या यह सम्भव है ? इसीलिए जब पहले भरतजी से गुरु वसिष्ठ और मंत्रियों द्वारा राज्य चलाने के लिए कहा गया, तो उन्होंने कहा—

"आप जैसे बड़े बड़े विवेकी लोगों को हो क्या गया है ?—

तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधम कें राज। २/१७८

—आप मोहवश मुझ जैसे अधम के राज्य से सुख की आशा करते हैं । आप चाहते हैं कि जल्दी से एक राजा मिल जाय, फिर वह चाहे कैसा भी क्यों न हो । आप लोग शायद यह सोचते होंगे कि राज्य देकर मेरे प्रति उदारता दिखा रहे हैं, पर मैं आप लोगों से स्पष्ट जानना चाहता हूँ कि—

एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ।। २/१७७

—आप मेरा कल्याण चाहते हैं अथवा किसी बड़े कार्य की मुझसे आशा करते हैं ? यदि आप मेरा हित चाहते हैं, तो मुझे राजा मत बनाइए ।"

किसी ने श्री भरत से कहा—"आप तो बड़े त्यागी हैं । सहज प्राप्त इतने बड़े राज्य को छोड़ रहे हैं !"

भरत जी ने कहा—"मैं त्यागी नहीं हूँ । आप लोग

मुझे इतना छोटा पद दे रहे हैं। मैं हूँ बड़े पद का लोभी। आप लोग झूठा भुलावा दे मुझे छोटा पद देना चाहते हैं, पर मुझे तो दूसरा पद चाहिए।"

"कौन सा?"—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥ २/१८२

—"आप देना चाहते हैं अयोध्या का पद और मैं चाहता हूँ श्रीराम का पद। आप देना चाहते हैं साधारण सी वस्तु और मुझे चाहिए बड़ी वस्तु!"

यही दृष्टिकोण श्री हनुमान का भी था। भगवान् राम ने उनसे कहा—"हनुमान, जितने राज्य आये, तुमने सब दूसरों को दिलवा दिये। अपने लिए कुछ नहीं माँगा। किष्किन्धा का राज्य तुमने सुग्रीव को दिलवा दिया और लंका का विभीषण को। अयोध्या का राज्यपद यदि मैं देना भी चाहूँ, तो तुम लोगे नहीं। अब मैं तुम्हें क्या दूँ?" हनुमानजी ने मुसकराकर कहा—"प्रभु, बस अब आप अपना पद ही दे दीजिए। और सब पद तो आपने बाँट दिये, पर यह पद बचा हुआ है, उसे मुझे दे दीजिए।" प्रभु को लगा कि हनुमान कितने चतुर हैं। संसार में और जितने पद हैं, वे बड़ी कठिनाई से मिलते हैं और मिलते ही पानेवाले पर सवार हो जाते हैं। पद को तो रहना चाहिए नीचे। भगवान् ने जो शरीर बनाया, उसमें पैर नीचे रहता है और सिर ऊपर। और जब किसी को पद मिल जाता है, तो पद हो जाता है ऊपर, और बेचारा व्यक्ति उल्टे ढंग से चलने लगता है।

जव यह पद आता है, तो बोझ बनकर आता है और जब जाता है, तो रुलाकर जाता है। जो आया है, वह जाएगा अवश्य, पर व्यक्ति भूतकाल की स्मृति को लेकर पड़ा रहता है।

हमारे एक परिचित डिपुटी कलेक्टर थे—बड़े सज्जन और सत्संगी। एक वार उन्होंने बड़े भोलेपन से पूछा—"आपने कभी भूत देखा ?" मैंने कहा—"देखा!" "कहाँ ?" मैंने कहा—"एक तो आप ही हैं।" उन्होंने झेंपते हुए कहा—"आप तो मजाक कर रहे हैं। बताइए, कहीं देखा है ?" वे जब पत्र लिखते, तो अपना पता लिखते थे—भूतपूर्व डिपुटी कलेक्टर। मैंने कहा—"देख लीजिए। आपकी डिपुटी कलेक्टरी तो कब जमाने से छूट चुकी है, पर उसका भूत पीछे लगा हुआ है। यही तो भूतत्व है !"

संसार के पद बड़ी कठिनाई से आते हैं और आते हैं, तो बड़ा बोझ बनकर आते हैं। और लोग इस बोझ के मारे थके जा रहे हैं। वस्तुतः बोझ कम है, पर बोझ उठाने का अहं अधिक है, जिसके कारण व्यक्ति थका जा रहा है। किन्तु यह रामपद यदि एक बार मिल जाए, तो इस पद पर आप सारा भार देकर निश्चिन्त हो जाइए। एक बार यह पद प्राप्त हुआ, तो कभी छूटेगा नहीं। इसे प्राप्त कर व्यक्ति कभी गिरेगा नहीं। भरतजी के चरित्र में, उनके दर्शन में भगवान् राम के पदकमलों में सारा भार समर्पित कर कर्तव्य-कर्म का जो पालन है, वही धर्मसार है और उसे ही श्रीभरत अयोध्यावासियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान – अद्वैत आश्रम, वाराणसी

५ फरवरी १६२१

प्रश्न——महाराज, कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत होती है ?

महाराज——जप-ध्यान इत्यादि द्वारा ही जागृत होती है। और कोई कोई कहते हैं, उसकी एक विशेष साधना है, जिसके द्वारा जागृत होती है। मेरा विश्वास है कि जप-ध्यान द्वारा ही जागृत होती है। कलियुग में जप-ध्यान ही श्रेष्ठ है। जप के समान सहज साधन और नहीं है। जप के साथ साथ ध्यान करना चाहिए।

प्रश्न——ध्यान क्या है, महाराज, मूर्तिचिन्तन ही तो ?

महाराज——मूर्तिचिन्तन और निर्गुणचिन्तन दोनों।

प्रश्न——अच्छा महाराज, कौन मूर्तिचिन्तन और कौन निर्गुणचिन्तन का अधिकारी है यह गुरु ही तो ठीक कर देते हैं न ?

महाराज——हां, पर मन ही गुरु है। मन को कभी मूर्तिचिन्तन करना अच्छा लगता है, तो कभी निर्गुण-चिन्तन करना। बाहर के गुरु तो सब समय मिलते नहीं। साधन-भजन में लगे रहने से मन ही सब समझ लेता है। मन ही सब दिखा देगा। योगवासिष्ठ में लिखा है, मन की धारा विभिन्न दिशाओं में बहती है, विभिन्न दिशाओं से सारी शक्ति निकल जा रही है। यह मन कुछ तो देह

में, कुछ इन्द्रियों में और कुछ विषयों में बँधा हुआ है। मन के सारे बन्धन काट डालो, समूचे मन को समेटकर उसी ओर लगा दो। यही तो साधना है। सम्पूर्ण मन को concentrat (एकाग्र) करके उसी तरफ लगा देना होगा, जब तक इच्छित वस्तु लाभ नहीं हो जाती। खूब परिश्रम करो, जी-जान से लग जाओ, यही तो उम्र है। बुढ़ापे में कुछ न होगा। जरा जी-जान से जुट तो जाओ। देखोगे, मन की सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत कर सकने से अन्तर में महान् शक्ति जागृत हो जायगी। लग जाओ, लग जाओ! जप से हो, ध्यान से हो, विचार से हो—सभी समान हैं। एक को पकड़कर डूब जाओ। प्रश्न बन्द। कुछ करो, फिर आकर बतलाओ।

एक साधु को लक्ष्य कर उन्होंने कहा, "पंचदेवताओं के पाँच स्तोत्र प्रतिदिन पाठ करना। वह साधना के समान होगा।"

प्रश्न—महाराज, गुरुकृपा होने पर तो कुण्डलिनी जागृत होती है?

महाराज—केवल कुण्डलिनी ही नहीं जगती, वरन् सब हो जाता है—ब्रह्मज्ञान तक। पर गुरुकृपा क्या यों ही हो जाती है? बहुत परिश्रम करना पड़ता है। मन को अकेले में पूछना, "क्या किया?" मन जवाब देगा, "कुछ भी नहीं किया।" कुछ करो, कुछ करो। लग जाओ। अन्य किसी भी ओर दृष्टि मत डालो। बस उस वस्तु को ही लेकर पड़े रहो; डूब जाओ। पहले-पहल

एक routine (नियमित कार्यपद्धति) करना आवश्यक है। फिर उस routine को follow (पालन) करो तो सही। मन बैठे या न बैठे, जप-ध्यान routine work (नियमित कार्य) के समान प्रतिदिन करना उचित है।

अद्वैत आश्रम, वाराणसी

१२ फरवरी, १९२१

महाराज––साधन-भजन कैसा चल रहा है ?

उत्तर––काम-काज के कारण जप-ध्यान करने के लिए समय नहीं मिलता।

महाराज––मन के गोलमाल के कारण जप-ध्यान नहीं होता। यह सोचना भूल है कि काम-काज के कारण जप-ध्यान के लिए समय नहीं मिलता। Work and workship (कर्म एवं उपासना) एक साथ करने का अभ्यास करना होगा। केवल साधन-भजन लेकर रहना उत्तम तो है, किन्तु कितने लोग कर सकते हैं ? कुछ न कर केवल अजगर-वृत्ति का अवलम्बन करना एक तो idiot (जड़-बुद्धि सम्पन्न) लोग कर सकते हैं, जिनमें brain (मस्तिष्क) से काम लेने की शक्ति नहीं होती और जो किसी भी तरह बचे रहते हैं, और दूसरे, महापुरुष लोग कर सकते हैं, जो कर्म के परे हैं। गीता में कहा गया है, कर्म किये विना ज्ञानलाभ नहीं होता। कर्म में से जाना ही होगा। जो लोग कर्म छोड़ देकर साधन-भजन करते हैं, उनका भी समय कुटिया बनाने और रोटी पकाने में बीत जाता है। यह कर्म ठाकुर-स्वामीजी का है इस भाव से

करने पर कोई बन्धन नहीं होगा; यही नहीं, वरन् उसके through (द्वारा) spiritual, moral, intellectual and physical (आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक एवं शारीरिक) सभी प्रकार की उन्नति होगी। उनके चरणों में आत्मसमर्पण करो। शरीर, मन, सब कुछ उनके चरणों में समर्पित कर दो। उनके गुलाम हो जाओ। कहो—'यह शरीर-मन सभी तुम्हें दे दिया है, इससे जो कराना चाहो करा लो। मैं अपनी अल्प शक्ति से जो कुछ सम्भव होगा, करने के लिए हमेशा तैयार हूँ।' तब तुम्हारा भार उन पर हो जायगा। फिर तुम्हें स्वयं को और कुछ नहीं करना होगा। ठीक ठीक ऐसा ही करना चाहिए। नहीं तो "राम भी कहोगे और कपड़ा भी उठाओगे" * यह नहीं चलेगा। हम लोग भी तो पाँच-छह

* इसका सम्बन्ध श्रीरामकृष्ण के उस चुटकुले से है, जिसमें ग्वालिन और पुरोहित की कथा है। एक ग्वालिन एक पुरोहित को, जिनका घर नदी के उस पार था, नित्य दूध दिया करती। नाव की अनियमितता के कारण कभी कभी उसे दूध पहुँचाने में विलम्ब हो जाता। एक दिन पुरोहित ने उसे इस विलम्ब के लिए डाँटा। उसने कहा, "मैं क्या करूँ? कभी कभी नाव के लिए बहुत लम्बी बाट जोहनी पड़ जाती है।" पण्डितजी बोले, "अरी भलीमानस, लोग भगवान् का नाम ले इस संसार-समुद्र को पार कर जाते हैं और तू इस छोटी सी नदी को पार नहीं कर सकती?" उस दिन से उसने दूध देने में कभी विलम्ब नहीं किया। एक दिन पुरोहित ने पूछा, "क्या बात है, आजकल समय पर दूध दे जाती हो?" ग्वालिन ने सरल भाव से कहा, "मैं भगवान् का नाम लेती

वर्ष घूम-घामकर आखिर काम में लग गये। स्वामीजी ने मुझे बुलाकर कहा था, "अरे, उसमें कुछ नहीं है—काम कर।" तभी तो हम लोगों ने भी सब प्रकार के काम किये हैं। पर उससे कोई हानि हुई हो ऐसा तो नहीं लगता। पर हाँ, स्वामीजी की वाणी पर हम लोगों की अगाध श्रद्धा थी। तुम लोग भी इन लोगों की वाणी में विश्वास रख बढ़े जाओ। कोई डर नहीं है। दृढ़ विश्वास रखो। कितनें लोग इस काम में रोड़े डालेंगे, कटाक्ष करते हुए कहेंगे कि क्या यही सब ठाकुर-स्वामीजी का काम है! पर किसी की बात मत सुनना। यदि सारी दुनिया विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी उसे नहीं छोड़ना, जिसे तुमने अच्छी तरह पकड़ रखा है।

प्रश्न—केवल जप-ध्यान लेकर रहना बहुत कठिन है। मै तो अधिक दिन नहीं सका।

महाराज—कर्म और उपासना एक साथ करना चाहिए। दो-चार वार नहीं कर सके इसके मानी यह नहीं कि कर ही नहीं सकोगे। बारम्बार चेष्टा करनी चाहिए।

हूँ और जैसा मुझे बताया, नदी को पार कर जाती हूँ!" पुरोहित को आश्चर्य हुआ। वे अपनी आँखों से इसे देखना चाहते थे। अत: वे ग्वालिन के साथ नदी पर गये। उन्होंने देखा कि ग्वालिन ने भगवान् का नाम लिया और नदी के जल पर चलने लगी। बीच में पहुंचकर वह लौटकर देखने लगी, पुरोहित पानी के ऊपर अपने कपड़े उठाये धीरे धीरे उसके पीछे आ रहे हैं। वह बोली, "यह कैसी बात है? राम का नाम भी लेते हो और कपड़ा भी उठाते हो? क्या विश्वास नहीं है?"

ठाकुर कहते थे, "बछड़ा खड़े होने की कोशिश करने के समय सौ बार गिरता है, तो भी छोड़ता नहीं, आखिर में दौड़ना सीख जाता है।"

पहले-पहल, कर्म में रहने से एक प्रकार की training (शिक्षा) होती है। तब मन को साधन-भजन में लगाया जा सकता है। नहीं तो ऊपर ऊपर रखने से साधन-भजन के समय भी मन उसी प्रकार रहता है। एक समय आता है, जब सब छोड़-छाड़कर सिर्फ जप-ध्यान ही लेकर रहने की इच्छा होती है, तब सारे कर्म अपने आप छूट जाते हैं। मन जब जागृत होता है, तभी ऐसा होता है। नहीं तो जबरदस्ती करने से दो-चार दिन तो अच्छा लगता है, पर उसके बाद फिर monotony (नीरसता) आ जाती है। कोई कोई तो पागल हो जाते हैं। कोई कोई ऊपर ऊपर ही करते हैं—उनका मन दसों विषयों में बिखरा रहता है।

ब्रह्मचर्य से खूब शक्ति आती है। एक व्यक्ति पचीस व्यक्ति का काम कर सकता है। पहले ब्रह्मचर्य के नियमों में जप, ध्यान, स्वाध्याय, तीर्थभ्रमण, सत्संग ये सब शामिल थे। खुद का किससे भला होगा, यह क्या सभी लोग जान सकते हैं? इसीलिए गुरु और महात्माओं का संग करना पड़ता है। तुमको पूरी freedom (स्वाधीनता) देता हूँ। करके तो देखो, कितने दिन कर सकते हो? दो-चार दिन? मन अभी कच्चा है, trained (नियन्त्रित) नहीं है, इसीलिए सब गड़बड़ी हो रही है। गपशप के

समान दूसरा शत्रु नहीं। वह एकदम ruin (अध:पतन) ला देती है। निर्जनवास किये बिना मन की workings (क्रियाएँ) समझ में नहीं आ पातीं और सत्य का आकलन नहीं हो पाता। नाना प्रकार के गोलमाल के बीच रहने से भाव का development (विकास) होना बहुत कठिन है।

हिमालय के समान क्या कोई स्थान है? कितना निर्जन, कितना पवित्र! शिव का स्थान है—— मस्तिष्क ठण्डा रहता है। चार घण्टे का काम एक घण्टे में हो जाता है। मैं सबको स्वाधीनता देता हूँ, अपने अपने भाव के अनुसार सब कोई आगे बढ़ जायँ। जब देखता हूँ कि कोई असमर्थ हो रहा है, तब help (सहायता) करता हूँ।

एक ही स्थान में ठाकुर-स्वामीजी का काम करत हुए पड़े रहना सब प्रकार से अच्छा है। कहीं पर अधिक दिन रहने से तुम्हारे मन में ऐसा विचार उठ सकता है—— 'कहाँ, कुछ तो नहीं कर रहा हूँ, खाली बैठे बैठे खाता हूँ', और दूसरे लोग भी ऐसी बात कह सकते हैं। पर एक काम लेकर रहने से मन भी अच्छा रहता है और शरीर भी। हम लोग जब काम करते थे, तब शरीर तथा मन कितना अच्छा रहता था। लोग सोचते हैं, ये लोग कुछ भी काम नहीं करते—— जैसे मैं। एक स्थूल उदाहरण के तौर पर बतला रहा हूँ। अत: उनके मन में विचार उठता है कि हम लोग भी फिर विना काम किये क्यों न रहें? ऐसा विचार मन में कभी न लाना।

सामने अनन्त जीवन है। दो-चार जन्म उनके कार्य के लिए यदि दे ही दिये, तो हर्ज क्या ? यदि भूल भी हो तो दो-चार जन्म यों ही जाने में हर्ज क्या ? पर नहीं, वैसा नहीं है। देखेगा, उनकी कृपा से आतिशबाजी के समान कितने ऊपर उठ जाएगा। मन्थर गति से काम बनने का नहीं। आलसी होने से साधन भजन नहीं होगा। जो भी करो सोलह आने मन लगाकर करो, यही कर्म का secret (कौशल) है। स्वामीजी भी हम लोगों से यही बात कहते थे। लग जाओ। एक पत्रिका चलाना तुम लोगों के लिए कुछ भी नहीं है। काम करने के समय एक बार उन्हें प्रणाम करना। और काम करते करते बीच में interval (अवसर) पाने पर उनका स्मरण-मनन करना। काम समाप्त कर फिर से प्रणाम करना। उनकी वाणी, उनका चिन्तन, उनका उपदेश, इस सबका चिन्तन करते हुए दिन बिताना। ऐसा न सोचना कि यह सब नि... का काम है। सोचना, यह सब ठाकुर-स्वामीजी का काम है। नि... के कुछ कहने पर सोचना कि बड़े भाई ने दो बातें कह दी हैं। सभी एक परिवार के लोग हो, भाई-भाई में जैसा व्यवहार होता है वैसा करना। नि... जैसा मेरा अपना है, वैसे ही तू भी है। वैसे ही सब लोग हैं।

मन को शान्त करना होगा। Inertia (जड़त्व) को स्थान न दे स्थिर भाव से मन को प्रशान्त करना होगा। नहीं तो reaction (प्रतिक्रिया) को सँभाला नहीं जा सकता--

उसका परिणाम बुरा होता है। जप-ध्यान के द्वारा इन्द्रियाँ आप ही आप संयत हो जाती हैं, किन्तु पहले-पहल उन्हें वश में रखने के लिए चेष्टा करनी पड़ती है। एक sitting (आसन) में वहुत देर तक जप-ध्यान करने की शक्ति धीरे धीरे आती है। पहले-पहल दिन में चार-पाँच बार बैठने का अभ्यास करना अच्छा है। मन लगे या न लगे, जप करते जाना उचित है, क्योंकि कौन जाने मन कव एकाग्र हो जाय। इस तरह होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए इस शान्तभाव की प्राप्ति के लिए इच्छा न होते हुए भी जप-ध्यान किये जाना अच्छा है। कुण्डलिनी के चैतन्य होने से रिपु आदि कहाँ पड़े रह जाते हैं। तब मन में यह उठता भी नहीं कि वे सब हैं भी।

•

आचार्य मध्व–जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी दुर्गेश चैतन्य

(गतांक से आगे)

(८)

वदरीधाम की प्रथम यात्रा के पश्चात् आचार्य मध्व ने अव तक पर्याप्त कार्य कर लिया था। उनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र-भाष्य को उनके गुरु अच्युतप्रकाश ने ध्यानपूर्वक पढ़ा। उसमें प्रस्तुत तर्कों की सूक्ष्म परीक्षा की। मध्व से उस विषय में अनेक तर्क किये। सुझाव दिया, संशोधन किया। इस बीच कुछ प्रसिद्ध विद्वान् पण्डितगण श्री मध्व के शिष्य हो गये। आसपास के क्षेत्रों में मध्व की विजय-दुन्दुभि वज उठी। उनकी साधुता तथा शास्त्रज्ञान की लोगों पर गहरी छाप पड़ी। बहुत से लोग उनके नवीन भक्तिपथ के अनुयायी हो गये। भक्तिपरक नववेदान्त का मानो एक प्रवाह उमड़ पड़ा। ऐसा लगता है कि भक्ति की जो धारा कन्नड़ देश में प्रवाहित हो रही थी, भगवान् उसका रसास्वादन अन्य स्थानों के भक्तों को भी कराना चाहते थे। इसीलिए कदाचित् उन्होंने आचार्य मध्व के मन में दूसरी वार वदरीधाम यात्रा की प्रेरणा दी।

आचार्य मध्व ने अपने शिष्यों तथा कुछ अन्तरंग भक्तों से अपनी द्वितीय वदरीधाम-यात्रा की इच्छा प्रकट की। सभी ने वड़े उत्साह से आचार्य की इच्छा का समर्थन किया। शीघ्र ही सव लोग उत्साहपूर्वक यात्रा की तैयारी में जुट गये। पचास से अधिक लोगों का दल

बना। एक शुभ दिन और शुभ घड़ी में यह दल अपनी महान् तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ा। इस यात्रा में आचार्य के दल को कई विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। किन्तु आचार्य मध्व के योगबल तथा सही मार्गदर्शन में दल ने सभी बाधाओं को सफलतापूर्वक पार कर लिया। अपने ग्रन्थ 'मध्वविजय' में श्री नारायण ने आचार्य मध्व की अलौकिक योगविभूतियों का बड़ा रोचक वर्णन किया है

यात्रा करते हुए यह दल महाराष्ट्र के देवगिरि राज्य में पहुँचा। उस समय महादेव नाम का एक तरुण राजा उस राज्य की गद्दी पर आसीन था। यह राजा सार्वजनिक हित के कार्य तो करना चाहता, पर उसके लिए अपने राजकोष से धन खर्च करना नहीं चाहता था। उसके मन में इच्छा हुई कि राजधानी में एक बड़े सार्वजनिक जलाशय का निर्माण कराया जाय। जलाशय-खनन की योजना बनी। ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि सभी लोगों को खनन-कार्य में काम करना पड़ेगा। साथ ही यह भी नियम बना दिया गया कि उस रास्ते से जो भी यात्री निकले, उससे भी खनन-कार्य में सहयोग लिया जाय। जहाँ जलाशय खोदा जा रहा था, उसके आसपास चारों ओर राजा के सिपाही नियुक्त कर दिये गये। वे लोग सभी आगन्तुकों को पकड़कर उनसे बलपूर्वक काम कराते। जलाशय खोदने के कार्य में राजा की इतनी रुचि थी कि वह स्वयं खड़े हो खनन-कार्य का निरीक्षण करता।

यात्रा करते करते आचार्य मध्व का तीर्थयात्री दल भी उस ओर आ निकला। सिपाहियों ने देखा कि साधुओं के साथ यात्रियों का एक बड़ा दल चला आ रहा है। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जाकर इस यात्रीदल को घेर लिया। सिपाहियों के नायक ने उन्हें राजाज्ञा सुनायी और जलाशय में काम करने का आदेश दिया।

आचार्य मध्व ने उसे समझाया, "भाई! हम लोग संन्यासी तथा तीर्थयात्री हैं। हम आपके राज्य की प्रजा नहीं हैं, अतः आपकी राजाज्ञा हम पर लागू नहीं होगी। हमें अपनी यात्रा में आगे बढ़ जाना है। हम यहाँ रुकना नहीं चाहते, अतः आप हमें जाने दें।"

किन्तु उद्धत प्रमुख ने आचार्य की बातें नहीं सुनीं और धृष्टतापूर्वक कहा, "यदि तुम लोग काम नहीं करोगे, तो हम तुम्हें राजा के पास ले जाएँगे और तब राजाज्ञा न मानने के दण्डस्वरूप तुम्हें बहुत अधिक काम करना पड़ेगा।"

श्री मध्व ने कहा, "अच्छा, तुम हमें अपने राजा के पास ले चलो। हम उनसे ही चर्चा करेंगे।"

राजा वहाँ से थोड़ी ही दूर पर अपने कर्मचारियों के साथ बैठा हुआ जलाशय-खनन कार्य देख रहा था। सिपाही आचार्य मध्व को उनके दल के साथ राजा के पास ले गये। सिपाहियों के नायक ने राजा से संन्यासीदल की शिकायत की।

राजा ने आचार्य मध्व से पूछा, "संन्यासी! तुम

काम क्यों नहीं करना चाहते ?"

श्री मध्व ने राजा को समझाने की चेष्टा की। पर प्रभुता के मद में मत्त राजा ने उनकी एक न सुनी। उल्टे आदेश के स्वर में कहा, "संन्यासी ! तुम्हें अपने दल के साथ हमारे जलाशय में काम करना होगा। यदि तुम राजाज्ञा का पालन नहीं करोगे, तो परिणाम दुस्सह होगा !"

आचार्य मध्व ने नम्रता से कहा, "यदि आपके राज्य का यह नियम है, तो हम सहर्ष कार्य करने को प्रस्तुत हैं।"

श्री मध्व की नम्रता से राजा प्रसन्न हुआ।

आचार्य ने पुनः कहा, "महाराज ! एक निवेदन है।"

राजा ने कहा, "कहो, क्या कहना चाहते हो ?"

श्री मध्व ने अपनी बात रखी, "महाराज ! आप सार्वजनिक हित के लिए इस विशाल जलाशय का खनन करवा रहे हैं। आपकी प्रजा के साथ साथ इस रास्ते से जानेवाले यात्रियों को भी इसका लाभ मिलेगा। क्या ही अच्छा हो कि हमारे खनन-कार्य का आरम्भ आप अपने हाथों थोड़ी मिट्टी खोदकर करें। इस प्रकार हमारा मार्गदर्शन हो जायगा तथा आपको प्रत्यक्ष कार्य करते देख आपकी प्रजा का उत्साह भी कई गुना बढ़ जायगा। साथ ही आपको भी सार्वजनिक सेवा का पुण्य लाभ होगा।"

राजा को आचार्य की बात पट गयी। उसने कहा, "संन्यासी ! तुम ठीक कहते हो। हम स्वयं मिट्टी खोद-कर तुम लोगों के खनन-कार्य का प्रारम्भ करेंगे।

कुदाल और टोकनी ले राजा जलाशय में उतर पड़ा और लगा मिट्टी खोदने। देखते ही देखते राजा की आँखें लाल हो उठीं। चेहरा तमतमा उठा। वह इस प्रकार काम करने लगा मानो उसके सिर पर भूत सवार हो। घण्टे पर घण्टे बीत गये। राजा पसीने से तरवतर हो गया; किन्तु मिट्टी खोदने का काम वन्द न हुआ। राजकीय अधिकारी, मन्त्रीगण आदि सभी ने राजा से काम वन्द करने का अनुरोध किया, पर राजा ने क्रुद्ध हो सबको वहाँ से हटा दिया। राजमहल में समाचार पहुँचा। वहाँ रनिवास में कुहराम मच गया। राजा ने दोपहर का भोजन भी नहीं किया था। दिन ढलने को आया। पर वह यंत्रवत् मिट्टी खोदे ही जा रहा था। सभी लोग चिन्तित और व्याकुल हो उठे। तभी एक राजकर्मचारी का ध्यान नये आये हुए संन्यासियों की ओर गया। उसने सोचा, हो न हो इन संन्यासियों में से ही कोई हमारे राजा को इस विपत्ति से छुड़ा सकता है। ऐसा सोच उसने आचार्य मध्व के एक सन्यासी-शिष्य से कहा, "महाराज! आप तो हमारे राजा की स्थिति देख ही रहे हैं। उन्हें क्या हो गया है यह कोई समझ नहीं पा रहा है। यदि वे इसी प्रकार कार्य करते रहे, तो उनके प्राण संकट में पड़ जाएँगे। हमें उनकी रक्षा का कोई उपाय बतलाइए।"

संन्यासी ने कहा, "आप लोग जानते नहीं हमारे गुरु कितने बड़े सिद्धयोगी हैं। आपके राजा ने अन्याय-

पूर्वक आदेश निकालकर निरीह पथिकों को कष्ट दिया है। इसीलिए गुरुदेव रुष्ट हो गये हैं। इस विपत्ति से आपके राजा के छूटने का एक ही उपाय है-- यदि आप लोग हमारे गुरु की शरण में जायँ, उनसे क्षमा माँगें तथा उन्हें प्रसन्न कर लें, तभी आपके राजा इस विपत्ति से छूट सकते हैं, अन्यथा नहीं।"

संन्यासी की बातें सुनकर राजा के वरिष्ठ मंत्री तथा राजकर्मचारीगण आचार्य मध्व के पास गये। उनके चरणों में प्रणाम कर अपने राजा के अपराधों के लिए क्षमा माँगी तथा उस पर कृपा करने की प्रार्थना की।

सिद्ध पुरुषों का क्रोध पानी पर खींची गयी रेखा के समान होता है। अभी दिखा कि वे क्रोध में हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण उनका मन शान्त और सम हो उठता है। आचार्य मध्व तो सिद्धयोगी थे। उनका मन सदैव समत्व में रहता था। राजा के कर्मचारियों की प्रार्थना से आचार्य के मन में करुणा जागी। अपने योगबल से उन्होंने राजा के मन को स्वस्थ कर दिया। स्वस्थ होने पर राजा को अपनी स्थिति का भान हुआ। जब मंत्रियों ने उसे यह बताया कि नवागन्तुक आचार्य की कृपा से ही आप स्वस्थ हो सके हैं, तब राजा को आचार्य मध्व की गरिमा का भान हुआ। राजा तुरन्त जाकर आचार्य के चरणों में गिर पड़ा और उसने अपने असद्व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। आचार्य ने प्रसन्न मन से राजा को आशीर्वाद दिया और अपनी यात्रा पर चल पड़े।

चलते चलते यह यात्र दल दिल्ली राज्य की सीमा में पहुँचा। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर अलाउद्दीन खिलजी का चाचा जलालुद्दीन खिलजी बैठा था। वह युग उग्र साम्प्रदायिकता और धार्मिक घृणा का युग था। मुसलमान शासकों के क्षेत्र में हिन्दुओं के पर्व-त्यौहारों आदि पर कड़े प्रतिवन्ध थे। इन राज्यों में साधु-संन्यासियों का न तो कोई मान-सम्मान था और न ही उनका जीवन सुरक्षित था।

आचार्य मध्व के दल ने दिल्ली राज्य की सीमा में प्रवेश किया। वे लोग थोड़ी ही दूर गये थे कि मुसलमान सिपाहियों ने उन्हें आ घेरा। आचार्य के भव्य व्यक्तित्व से वे लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। इस यात्री-दल को उन्होंने कोई कष्ट नहीं दिया, किन्तु उसे वे अपने बादशाह के पास ले गये। बादशाह के सामने पहुँचने पर मध्व ने उसे राजोचित सम्मान दिया और धाराप्रवाह फारसी भापा में उससे बातें करने लगे। एक हिन्दू संन्यासी को धाराप्रवाह फारसी बोलते देख बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ। आचार्य मध्व के ज्ञान से वह बड़ा प्रभावित हुआ तथा उसने सम्मानपूर्वक उनके दल को विदा दी।

श्री मध्व के शिष्यगण आश्चर्यचकित रह गये, क्योंकि फारसी भाषा सीखना तो दूर, कदाचित् आचार्य मध्व ने वह भाषा कभी सुनी भी नहीं थी। यह तो आचार्य की अद्वितीय योगशक्ति का चमत्कार था कि

इच्छामात्र से एक मुहूर्त में उन्होंने फारसी भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार की और भी विघ्न-वाधाओं को पार करते हुए आचार्य हिमालय में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचे। उनके मन में भगवान् वेदव्यास के दर्शन की तीव्र लालसा जाग रही थी। ठहरने आदि की उचित व्यवस्था कर आचार्य पुनः अपने साथियों को पीछे छोड़ दुरूह गुफा में चले गये तथा भगवान् व्यास के दर्शनार्थ घोर तपस्या करने लगे। श्री मध्व को तपस्या से प्रसन्न हो भगवान् व्यास ने उन्हें दर्शन दिया। आनन्दविभोर हो श्री मध्व उनके चरणों में लोट गये। प्रणाम करने के पश्चात् मध्व ने स्वरचित सूत्रभाष्य की प्रति भगवान् व्यास के करकमलों में रख दी। महामुनि ने उसे देखा और प्रसन्न होकर बोले, "वत्स ! तुम्हारा यह भाष्य भक्तिसाधना के प्रचार-प्रसार में सहायक होगा। अब तुम महाभारत का तात्पर्य निर्णय करनेवाले एक ग्रन्थ की रचना करो।" इस आदेश के साथ ही भगवान् व्यास ने मध्व को तीन शालग्राम की शिलाएँ भी भेंट कीं और कहा, "अपने स्थान पर लौटकर जहाँ-जहाँ तुम इन शिलाओं की स्थापना करोगे, वे स्थान सिद्धपीठ के रूप में प्रसिद्ध होंगे।"

भगवान् व्यास से आशीर्वाद तथा शालग्राम शिला प्राप्त कर मध्व अपने शिष्यों और भक्तों के बीच लौट आये। भगवान् के दर्शन और आशीर्वाद के फलस्वरूप

श्री मध्व दैवी आभा से दीप्त हो रहे थे। उनका अभूतपूर्व तेज देख भक्तगण विस्मित हो उठे। आचार्य के सम्पर्क से उनके प्राणों में नवीन शक्ति का संचार हो उठा।

हिमालय के अन्यान्य तीर्थों के दर्शन करते हुए यह यात्रीदल पुनः समतल भूमि में आ गया। उत्तर भारत के हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र प्रभृति तीर्थों के दर्शन करते हुए यात्रीगण काशी पहुँचे। काशी तो सहस्राब्दियों से विद्या का केन्द्र रहा है। आचार्य मध्व के काशी आने का समाचार सुन विभिन्न मतों के साधक और संन्यासीगण दल के दल उनके पास शास्त्रार्थ करने हेतु आने लगे। अब तो आचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना कर ली थी। गीता पर पहले ही उन्होंने गुरु की आज्ञा से भाष्य लिख लिया था। महाभारत-तात्पर्य-निर्णय की भी रचना हो चुकी थी। उनके तलस्पर्शी शास्त्रज्ञान तथा अकाट्य तर्कों के सामने कोई न टिक सका। जो भी विद्वान् उनसे शास्त्रार्थ करने आया, वह पराजित होकर ही लौटा। कहा जाता है, कुछ उद्धत साधुओं को आचार्य मध्व ने अपने असीम शारीरिक बल का भी परिचय दिया था।

कुछ दिनों काशीवास कर आचार्य पश्चिमी समुद्री-तट पर स्थित परशुरामतीर्थ, गोआ आदि होकर उडुपी लौट आये।

(९)

आचार्य मध्व के उडुपी लौटने का समाचार सुन दूर दूर से लोग उनके दर्शनार्थ उडुपी आने लगे। आचार्य

के साथ शोभन भट्ट तथा समा शास्त्री जैसे विद्वान् पण्डित भी थे, जो अव उनके शिष्य थे। ग्रन्थ-रचना का कार्य भी पूर्ण हो चुका था। उनका मतवाद तर्क की कसौटी पर कसा जा चुका था। उनके ग्रन्थ शास्त्र-प्रमाणों से भरपूर थे। सर्वोपरि, भगवान् व्यास ने भी उन्हें भक्तिभाव के प्रचार का आशीर्वाद दिया था।

आचार्य मध्व की भक्तिधारा से प्रभावित हो सहस्रों लोग उनके अनुयायी वनने लगे। आचार्य का प्रभाव-विस्तार देख अद्वैतवादी विचलित हो उठे। श्री मध्व का विशेष प्रहार शांकरमत पर ही था। अतः अद्वैतवादियों ने सोचा कि श्रृंगेरी मठ के द्वारा ही श्री मध्व के नवीन मतवाद का खण्डन कर उसके प्रभाव-विस्तार को रोका जाय।

अद्वैतवादी साधकगण श्रृंगेरी मठ पहुँचे। मठ के प्रधान आचार्य विद्याशंकर ने महासमाधि ले ली थी। इनसे श्री मध्व को एक बार पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी। उनके स्थान पर श्रृंगेरी मठ के मठाधीश पद पर विराजमान थे आचार्य श्री पद्मतीर्थ। अद्वैत मतानुयायियों ने श्री पद्मतीर्थ से श्री मध्व के नवीन द्वैतवादी भाव के प्रचार-प्रसार की बात वतायी और कहा, "यतिप्रवर! दक्षिण देश में आज तक अद्वैत वेदान्त की दुन्दुभि बजती रही है। उसकी विजय-वैजयन्ती के सम्मुख सभी ने सिर नवाया है। आज श्री मध्व के द्वैतवादी प्रचार के कारण अद्वैतमत पर कठिन संकट आ पड़ा है।

आप जानते हैं कि ब्रह्मलीन आचार्य विद्याशंकर ने प्रारम्भ में ही इस मतवाद का खण्डन किया था। उनके स्थान पर अब आप विराजमान हैं। अतः इस संकट से अद्वैतमत की रक्षा कीजिए।"

अपने अनुयायियों और शिष्यों की बात सुन आचार्य पद्मतीर्थ ने शृंगेरी मठ में एक गुप्त सभा का आयोजन किया। उस सभा में इस विषय पर विचार किया गया कि उडुपी मठ के प्रभाव को कैसे कम किया जाय और नवीन मतवाद के प्रचार-प्रसार को कैसे रोका जाय।

विचार-विमर्श के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि मध्व-मत पर सभी ओर से एक साथ आक्रमण किया जाय पण्डितगण शास्त्रार्थ एवं तर्क से उस मत का खण्डन करें तथा अद्वैत के अन्य अनुयायीगण नवीन मत के विरुद्ध लोकमत को जगाएँ। धनी-मानीगण इस कार्य में आर्थिक सहायता प्रदान करें। निश्चय के अनुसार कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। अद्वैतवादी संन्यासीगण विभिन्न मठ-मन्दिरों में जाकर श्री मध्व के द्वैतवाद का खण्डन करने लगे और साधारण अनुयायीगण लोकमत को नवीन द्वैतवाद के विरुद्ध करने का प्रयास करने लगे।

इस समय एक और विशेष घटना घटी, जिसके कारण अनेक शैव भी इस द्वैतवादी वैष्णव-मत के अनुयायी हो गये। इस क्षेत्र में एक अद्वितीय पण्डित रहा करते थे। उनका नाम था पण्डित त्रिविक्रमाचार्य। वे शैवमत के अनुयायी थे। माँ सरस्वती की उन पर

अपार कृपा थी। वे मानो सदैव उनकी जिह्वा पर विराजती थीं। उनके अकाट्य तर्कों तथा अगाध पण्डित के सामने कोई भी न टिक सका था। एक दिन विष्णु-मंगल के राजा महाराज जयसिंह के साथ आचार्य मध्व विष्णुमंगल के मन्दिर में गये। वहाँ उपस्थित जन-समूह के सामने आचार्य ने श्रीमद्भागवत के कुछ अंशों की व्याख्या की। पण्डित त्रिविक्रम भी वहाँ उपस्थित थे। भागवत के उन श्लोकों की ऐसी विलक्षण व्याख्या आज तक उन्होंने न कहीं सुनी थी, न पढ़ी थी। श्री मध्व की व्याख्या में शंका को कहीं स्थान ही नहीं था। पर त्रिविक्रम कोई साधारण पण्डित तो थे नहीं। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि अवसर पाते ही वे आचार्य मध्व से शास्त्रार्थ करेंगे और यदि आचार्य उनकी शंकाओं का पूर्ण समाधान कर दें, तभी उनकी बातों को स्वीकार करेंगे।

शीघ्र ही वह अवसर आ गया। श्री मध्व विष्णु-मंगल से पास के एक ग्राम अमरालय गये। एक दिन वे वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर में पण्डितों की एक सभा में स्वरचित सूत्रभाष्य पर प्रवचन कर रहे थे। पण्डितप्रवर त्रिविक्रम को भी इसकी सूचना मिली। वे तो अवसर की प्रतीक्षा में ही थे। सभा में जाकर उन्होंने आचार्य को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। दोनों ही वक्ता मानो माँ सरस्वती के वरद पुत्र थे। उनके मुखों से स्रोतस्विनी की भाँति शास्त्रधारा की धारा बह चली। पन्द्रह दिन तक

यह शास्त्रार्थ चलता रहा। अन्त में पण्डित त्रिविक्रम की शास्त्र-स्रोतस्विनी आचार्य मध्व की ज्ञान-उदधि में विलीन हो अपना अस्तित्व खो बैठी। त्रिविक्रम की सभी समस्याओं का समाधान हो चुका था। उन्होंने आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर उनसे दीक्षा ली। उनका पाण्डित्य देख आचार्य ने उन्हें स्वरचित सूत्रभाष्य की व्याख्या लिखने का आदेश दिया। गुरु की आज्ञा पा त्रिविक्रम ने अपनी प्रसिद्ध 'तत्त्वप्रदीपिका' लिखी। इसे लिखने के पश्चात् त्रिविक्रम ने अनुभव किया कि सूत्रभाष्यों के जटिल अंशों पर और अधिक विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति आचार्य मध्व ही कर सकते हैं। उन्होंने आचार्य से निवेदन किया। अन्य पण्डित शिष्यों ने भी उनका अनुमोदन किया। शिष्यों का आग्रह देख आचार्य मध्व ने अनुव्याख्यान की रचना की।

(१०)

सन १२७५ ईसवी में श्री मध्व के पिता ने देह त्याग दी। पिता की मृत्यु के पश्चात् पूर्व योजनानुसार श्री मध्व के छोटे भाई ने भी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। वे भी एक विद्वान् साधक थे। अपने पिता तथा अन्यान्य पण्डितों से उन्होंने विद्या पायी थी। घर में रहते हुए भी बड़ी कठोर साधनाएँ की थीं। माता-पिता की सेवा के लिए ही वे घर में रह रहे थे। इस उत्तरदायित्व के पूर्ण होते ही उन्होंने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। छोटे भाई की योग्यता से आचार्य

भलीभाँति परिचित थे। भाई के आग्रह पर यथासमय उन्होंने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और उनका नाम विष्णुतीर्थ रखा। इस अवसर पर अन्य आठ साधकों की भी दीक्षा हुई। मध्वमत के प्रचार-प्रसार में श्री विष्णु-तीर्थ तथा उनके साथ संन्यास में दीक्षित हुए संन्यासियों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

अब आचार्य का कार्य समाप्त हो चला था। उन्होंने मठों की स्थापना की थी। अधिकारी योग्य पण्डितों को दीक्षा देकर शिष्य बनाया था। उन्हें भलीभाँति प्रशिक्षित किया था। शास्त्र-ग्रन्थों पर भाष्य रचे थे। अपने मठ की प्रतिष्ठा तथा नैरन्तर्य के लिए जो कुछ भी आवश्यक था, वह सब उन्होंने किया था। उनके इस धराधाम में आने का प्रयोजन अब पूर्ण हो चुका था। सन् १३१७ ईसवी के एक दिन आचार्य मध्व सरिदन्तर नामक स्थान पर अपने प्रमुख शिष्यों को ऐतरेय उपनिषद् की व्याख्या समझा रहे थे। उसी समय इष्टचिन्तन में लीन हो उन्होंने नश्वर मानवदेह त्याग दी। देह-त्याग के समय उनकी अवस्था ७९ वर्ष की थी।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) स्वर्ग और नरक

एक बार जापान के सन्त हाकुइन के पास एक सैनिक आया और उसने प्रश्न किया, "महाराज ! स्वर्ग और नरक अस्तित्व में हैं या केवल उनका हौवा बना दिया गया है ?"

हाकुइन ने उसकी ओर आपादमस्तक देखकर पूछा, "तुम्हारा पेशा क्या है ?"

"जी, मैं सिपाही हूँ," उसने उत्तर दिया।

सन्त ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, "क्या कहा, तुम सिपाही हो ! मगर चेहरे से तो तुम कोई भिखारी मालूम पड़ते हो ! तुम्हें जिसने भर्ती किया है, वह निश्चय ही कोई अहमक होगा।"

यह सुनते ही वह सैनिक आगबबूला हो गया और उसका हाथ तलवार की ओर गया। यह देख हाकुइन बोले, "अच्छा ! तुम साथ में तलवार भी रखते हो ! मगर इसकी धार पनी नहीं मालूम पड़ती, फिर इससे मेरा सिर कैसे उड़ा पाओगे ?"

इन शब्दों ने उसकी क्रोधाग्नि में घी का काम किया। उसने झट से म्यान से तलवार खींच ली। तब सन्त बोले, "लो, नरक के द्वार खुल गये !"

सन्त के ये शब्द उसके कानों तक पहुँच भी न पाये थे कि उसने महसूस किया कि सामने तलवार देखकर भी यह साधु शान्त बैठा हुआ है ! उसकी क्रोधाग्नि

एकदम शान्त हो गयी। उनका आत्मसंयम देख उसने तलवार म्यान में रख दी। तब सन्त बोले, "लो, अब स्वर्ग के द्वार खुल गये!"

(२) दिव्य शिक्षा

मिस्र के सन्त जू-उल-नून एक बार वुजू करने के लिए एक नहर के पास गये। सामने से एक सुन्दर स्त्री आ रही थी। वे वुजू करते करते उसकी ओर देखने लगे। जब वह पास आयी, तो उन्होंने महसूस किया कि वह स्त्री उनसे कुछ कहना चाहती है। आखिर उन्होंने पूछ ही लिया, "क्या तुम कुछ कहना चाहती हो?"

"हाँ! जू-उल-नून!" वह स्त्री बोली, "मैं जब इधर आ रही थी, तब दूर से मैंने आपको कोई दिवाना समझा था, मगर नजदीक आने पर लगा कि आप कोई आलम (विद्वान्) हैं, मगर और नजदीक आने पर आप कोई आरिफ (ब्रह्मज्ञानी) लगे, मगर अब निश्चय हो गया है कि आप इन तीनों में से कोई नहीं हैं।"

"तुमने ऐसा निश्चय किस आधार पर किया है, सुन्दरी?" जू-उल-नून ने साश्चर्य पूछा। वह स्त्री बोली, "बात सीधी सी है। अगर दीवाने होते, तो तुम वुजू न करते; आलम होते, तो मुझ-जैसी परायी स्त्री की ओर आँख भी न उठाते; आरिफ होते, तो अल्लाह का ही ध्यान रहता और मुझसे बात तक न की होती।"

यह सुनते ही जू-उल-नून का सिर आत्मग्लानि से झुक गया। उन्हें अब सीख मिल गयी थी कि खुदा को

इबादत करते समय एकचित्त रहना चाहिए और मन को इधर-उधर भटकने नहीं देना चाहिए।

(३) अपरिग्रह

फारस के सन्त अपुरायन सीरिया में बस गये थे और एक छोटी सी झोपड़ी में वास करते थे। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादगीपूर्ण था। रूखी-सूखी रोटी उनका भोजन थी और चटाई उनका बिस्तर। दिन-रात भगवत्-चिन्तन में लगे रहते।

एक बार सीरिया का राजकुमार उनसे मिलने आया। वे जब झोपड़ी से बाहर आये, तो उसने उन्हें प्रणाम किया और कीमती वस्त्र भेंट किये। यह देख सन्त बोले, "राजकुमार ! यदि आपके महल में स्वामिभक्त सेवक हों और वे दूसरे देश के वासी हों, आप उनसे सन्तुष्ट हों, मगर आपके पास यदि आपके देशवासी नौकरी माँगने आएँ, तब क्या आप उन पुराने स्वामिभक्त सेवकों को नौकरी से अलग कर देंगे ?"

"हरगिज नहीं," राजकुमार ने उत्तर दिया।

"तो फिर जिन वस्त्रों को मैं पिछले सोलह वर्षों से पहन रहा हूँ और जिनसे मेरी आवश्यकता पूरी हो जाती है, उन्हें निकलवाकर ये नये वस्त्र मुझे क्यों दे रहे हैं ?" यह कहकर सन्त झोपड़ी के अन्दर चले गये।

(४) झूठे रिश्ते

एक बार इटली के सन्त फ्रांसिस के पास एक सत्संगी युवक आया। सन्त ने उससे हालचाल पूछा, तो

उसने स्वयं को अत्यन्त सुखी बताया। वह बोला, "मुझे अपने परिवार के सभी सदस्यों पर बड़ा गर्व है। उनके व्यवहार से मैं सन्तुष्ट हूँ।"

सन्त बोले, "तुम्हें अपने परिवार के प्रति ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए। इस दुनिया में अपना कोई नहीं होता। जहाँ तक माँ-वाप की सेवा और पत्नी-बच्चों के पालन-पोषण का सम्वन्ध है, उसे तो कर्तव्य समझकर ही करना चाहिए। उनके प्रति मोह या आसक्ति रखना उचित नहीं।"

युवक को बात जँची नहीं, बोला, "आपको विश्वास नहीं होगा कि मेरे परिवारवाले मुझ पर अत्यधिक स्नेह करते हैं। यदि एक दिन घर न जाऊँ, तो उनकी भूख-प्यास उड़ जाती है और नींद हराम हो जाती है और पत्नी तो मेरे विना जीवित ही नहीं रह सकती।"

सन्त बोले, "तुम्हें प्राणायाम तो आता ही है। कल सुवह उठने के वजाय प्राणवायु मस्तक में खींचकर निश्चेष्ट पड़े रहना। मैं आकर सब सम्हाल लूँगा।"

दूसरे दिन युवक ने वैसा ही किया। उसे निर्जीव जान घर के सब लोग विलाप करने लगे। इतने में फ्रांसिस वहाँ पहुँचे। सव लोग उनके चरणों पर गिर पड़े। वे उनसे बोले, "आप लोग शोक मत करें। मैं मंत्र के बल पर इसे जिलाने का प्रयत्न करूँगा, मगर इसके लिए कटोरी भर पानी किसी को पीना पड़ेगा। उस पानी में ऐसी शक्ति होगी कि पीनेवाला तो मर जायगा, मगर

उसके बदले यह युवक जी उठेगा।"

यह सुनते ही सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। पानी पीने के लिए किसी को आगे न आते देख सन्त बोले, "तब मैं ही पीता हूँ।" इस पर सब बोल उठे, "महाराज! आप धन्य हैं! सचमुच सन्त-महात्मा परोपकार के लिए ही जन्म लेते हैं। आपके लिए जीवन-मृत्यु एक समान हैं। यदि आप जिला सकें, तो बड़ी कृपा होगी।"

युवक को सन्त के कथन की प्रतीति हो गयी थी। प्राणायाम समाप्त कर वह उठ बैठा और बोला, "महाराज, आप पानी पीने का कष्ट न करें। सांसारिक-सम्बन्ध क्षणिक और मिथ्या होते हैं, यह मैं जान गया हूँ। आपने सचमुच मुझे नया जीवन दिया है-- प्रबुद्ध जीवन, जिससे एक नयी बात मुझे मालूम हो गयी है।"

(५) मन की शुद्धि

एक युवक संसार से विरक्त हो फिलस्तीन के सन्त मरटिनियस के पास आया और बोला, "भगवन्! मैं आपकी सेवा में आ गया हूँ। कृपया मुझे आश्रय दें।"

सन्त बोले, "जाओ, पहले शुद्ध होकर आओ।" युवक स्नान करने गया। सन्त ने एक भंगिन को बुलाकर युवक के आने पर इस प्रकार झाड़ू लगाने को कहा, जिससे धूल युवक के शरीर पर उड़े। भंगिन ने वैसा ही किया। इस पर युवक उसे मारने दौड़ा, तो वह भाग गयी। सन्त ने युवक को फिर से शुद्ध होकर आने को

कहा। युवक के जाने पर सन्त ने भंगिन को युवक को छूने के लिए कहा।

युवक स्नान करके आया, तो भंगिन ने झाड़ते झाड़ते उसे छू दिया। युवक को गुस्सा आया। मगर उसने मारा तो नहीं, भंगिन को खूब गालियाँ दीं। सन्त ने फिर शुद्ध होकर आने को कहा। इस बार सन्त ने भंगिन को युवक पर कूड़ा डालने के लिए कहा।

युवक जब नहाकर आया, तो भंगिन ने उस पर कूड़े की पूरी टोकरी उलट दी। किन्तु इस बार युवक बिलकुल शान्त रहा, बल्कि वह भंगिन को प्रणाम करके बोला, "देवी ! तुम मेरी गुरु हो। यह तुम्हारी कृपा थी कि मुझे अपने अहंकार और क्रोध का भान हो गया और मैं उन्हें अपने वश में कर सका।"

तब मरटिनियस युवक से बोले, "अब स्नान करके आओ, क्योंकि तब तुम पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाओगे। अब तुम मेरे साथ रह सकते हो।"

(६) बुरा जो देखन मैं चला

शेख सादी बचपन में पढ़ने में बड़े तेज थे और कक्षा में उनका हमेशा पहला नम्बर रहता था। एक दिन उन्होंने अपने शिक्षक से शिकायत की, "उस्तादजी ! मेरा जमाती मुझसे जलता है। जब मैं 'हदीस' के मुश्किल शब्दों का आसान मतलब निकालता हूँ, तो वह मुझसे जल-भुन जाता है। अगर उसकी यही हालत रही, तो सचमुच उसे नरक ही मिलेगा।"

उस्ताद ने सुना, तो बोले, "तेरा दोस्त तुझसे जलता है, इसलिए तू उस पर उँगली उठाता है, मगर तू अपनी तरफ क्यों नहीं देखता कि तू भी उससे जलने लगा है। पीठ पीछे किसी की निन्दा करना तेरी नजर में क्या अच्छा काम है ? अगर कमीनेपन से तेरे दोस्त ने नरक का रास्ता अपनाया है, तो चुगलखोरी करके तू भी तो उसी रास्ते पर जा रहा है। पहले खुद का खयाल कर कि कहीं तू भी तो कोई बुराई नहीं कर रहा है ? अगर तू ऐसा करेगा, तो तुझे मालूम हो जाएगा कि तू भी बुराई करता रहता है।"

और बालक सादी को अपनी गलती महसूस हो गयी।

(७) दया धर्म का मूल

पिता ने बालक को पैसे देकर बाजार से फल लाने को कहा। उसे रास्ते में कुछ लोग ऐसे दिखायी दिये, जिनके बदन पर पूरे वस्त्र भी न थे और जिनके चेहरे से साफ दिखायी देता था कि उन्हें बहुत दिन से भोजन नसीब नहीं हुआ है। बालक का हृदय पसीज उठा और उसने उनमें पैसे बांट डाले। इससे उसे बड़ा ही आत्म-सन्तोष हुआ।

वापस आने पर पिता ने फलों के बारे में पूछा। उसने जवाब दिया, "पिताजी, आज तो मैंने अमरफल लाये हैं।" "अच्छा ? दिखा भला," पिता बोले। "बात यह है, पिताजी," बालक बोला, "रास्ते में मुझे कुछ

वहुत ही गरीब लोग दिखायी दिये, जिनके शरीर पर पहनने लायक वस्त्र भी न थे। उन्हें देख मुझे दया आयी और मैंने उन्हें वे पैसे दे डाले। अगर मैंने अपने लिए फल लाये होते, तो उनकी मिठास दो-तीन दिनों तक ही रही होती, किन्तु उससे मुझे 'अमरफल' प्राप्त न हुए होते।" पिता ने सुना, तो बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बेटे की पीठ थपथपायी।

यही बालक आगे चलकर 'सन्त रंगदास' हो गया।

•

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री सारदा देवी के कुछ संस्मरण

संकलनकर्ता स्वामी चेतनानन्द

(गतांक से आगे

(वार्तालाप के प्रसंग में श्री माँ सारदा बहुधा श्रीरामकृष्णदेव के संस्मरण सुनाया करती थीं। ऐसे ही कतिपय प्रसंगों का सकलन रामकृष्ण संघ के हालीवुड केन्द्र के स्वामी चेतनानन्द द्वारा किया गया था और वह 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत लेख तीसरी किस्त है। --सं.)

ठाकुर कैसे दिखते थे ?

उनका रंग सोने का-सा था--हरताल जैसा। बाँह में पहने हुए सोने के कवच के रग के साथ उनका रंग मिल गया था। जब मैं उनकी तेल से मालिश करती, तो उनके समूचे शरीर से एक आभा निकलते मैं स्पष्ट देख पाती। जब वे दक्षिणेश्वर में अपने कमरे से बाहर निकलते, तो लोग कतार बाँधकर खड़े हो जाते और एक दूसरे से कहते, 'देखो, देखो, वे जा रहे हैं!' उनका शरीर खासा तगड़ा था। मथुरबाबू ने उन्हें एक नीची चौकी बैठने के लिए दी थी। वैसे तो वह चौकी चौड़ी थी, पर इतनी बड़ी नहीं थी कि वे भोजन करते समय उस पर आराम से बैठ सकें। जब वे अपने धीमे, सधे हुए कदमों से स्नान करने गंगा पर जाते, तो लोग ठगे-से उनकी ओर देखते रहते।

जब वे कामारपुकुर में थे, तो जब भी वे घर से बाहर निकलते, नर-नारी आँखें फाड़-फाड़कर उनकी

ओर देखने लगते। एक दिन वे भूतीर खाल (नहर) की ओर घूमने जा रहे थे। जो स्त्रियाँ पानी भरने वहाँ गयी थीं, वे ठाकुर को देख विस्मय-विमुग्ध हो बोल उठीं, 'देखो, देखो, ठाकुर जा रहे हैं!' ठाकुर इस पर रुष्ट हो हृदय से बोले, 'तू तत्काल मेरे सिर को कपड़े से ढँक तो दे।'

मैंने ठाकुर को कभी उदास नहीं देखा। वे सबके साथ--चाहे वह पाँच साल का बच्चा हो, चाहे बूढ़ा--आनन्द में रहते थे। देखो बेटे! मैंने कभी उनका मुख लटका हुआ नहीं देखा। वे भी कैसे आनन्द के दिन थे! कामारपुकुर में वे तड़के उठकर मुझसे कहते, 'आज मैं यह सब्जी खाऊँगा। मेरे लिए यह बनाना।' घर की अन्य महिलाओं से मिलकर मैं तदनुसार उनका भोजन तैयार करती। कुछ दिन बाद वे कहने लगे, 'मुझे हो क्या गया है? ज्योंही नींद से उठता हूँ, कहने लगता हूँ-- क्या खाऊँगा, क्या खाऊँगा?' फिर बोले, 'मुझे अब किसी विशेष भोजन की चाह नहीं है। जो तुम पकाओगी, वही खाऊँगा।'

कैसा अनासक्त मन!

एक दिन हाजरा ने ठाकुर से कहा, 'तुम हरदम नरेन्द्र और अन्य युवकों से मिलने की क्यों सोचते रहते हो? वे अपने आप में मस्त हैं, खाने-पीने, खेल-कूद में रमे हैं। अच्छा होता तुम अपना मन भगवान् में लगाते। तुम उन लोगों पर इतने आसक्त क्यों हो?' यह सुनते

ही ठाकुर ने अपना मन इन बाल-भक्तों से पूरी तरह हटा लिया और ईश्वर-चिन्तन में निमग्न कर लिया। वे तत्क्षण समाधि में डूब गये। उनकी दाढ़ी और केश कदम्ब फूल की तरह सीधे खड़े हो गये। सोचो तो ठाकुर थे किस प्रकार के! उनका शरीर काठ के पुतले की तरह कड़ा हो गया। रामलाल, जो उनकी सेवा में लगा था, बारम्बार कहने लगा, 'अपनी स्थिति में आ जाओ।' तब कहीं अन्त में उनका मन सामान्य भूमि पर आ पाया। वे तो लोगों पर कृपा करने हेतु ही अपना मन इस भौतिक धरातल पर रखते थे।

० ० ०

एक बार ठाकुर के वेतन के हिसाब में कोई गड़बड़ी हो गयी। मैंने उनसे इस सम्बन्ध में मन्दिर के व्यवस्थापक से बात कर लेने को कहा। पर वे बोले, 'कैसी लज्जा की बात है! क्या मैं हिसाब की चिन्ता करूँगा?' एक बार उन्होंने मुझसे कहा, 'जो भगवान् का नाम लेता है, कभी किसी दुःख से ग्रस्त नहीं होता। तुम्हारे बारे में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं!' ये उनके मुख से निकले हुए शब्द हैं। त्याग ही उनका भूषण था।

श्रीरामकृष्ण का त्याग

ठाकुर की शरण में जाने से तुम्हें सब कुछ मिलेगा। त्याग ही उनका ऐश्वर्य था। हम उनका नाम लेते हैं, खाते और आनन्द करते हैं, क्योंकि उन्होंने सब कुछ त्यागा था। उनका जीवन त्याग की ऐसी ज्वलन्त मूर्ति

था कि लोग सोचते हैं कि उनके भक्त भी वैसे ही महान् होंगे।

क्या कहूँ! एक दिन वे नौबत में मेरे कमरे में आये। उनकी छोटी थैली में मसाला नहीं था। वे थोड़ा थोड़ा मुँह में डाल चबाते रहते थे। मैंने उन्हें वहीं फाँकने के लिए थोड़ा सा मसाला दे दिया और कुछ कागज की पुड़िया में बाँधकर कमरे में ले जाने के लिए दिया। वे लौटे, पर सीधे अपने कमरे की ओर जाने के बदले गंगा के तीर पर चले गये। वे रास्ता नहीं देख पा रहे थे, न ही उन्हें उसका होश था। वे बारम्बार दुहराने लगे, 'माँ! डूब मरूँ ?' मैं तो भय से विकल हो उठी। नदी पूरे कगार तक भरी हुई थी। तब मैं युवा स्त्री थी और अपने कमरे से बाहर नहीं निकलती थी। पास में मुझे कोई भी नहीं दीख पड़ा। मैं किसे उनके पास भेजती! अन्त में कालीमन्दिर का एक रसोइया मेरे कमरे की तरफ आता दिखायी दिया। उसके द्वारा मैंने हृदय को बुलवाया। हृदय तब भोजन करने बैठा था। वह थाल छोड़कर उठा और ठाकुर की ओर दौड़ा। उन्हें पकड़कर उनके कमरे में ले आया। यदि पल भर की देर होती, तो वे गंगा में कूद जाते।

कारण यह था कि मैंने कुछ मसाला उनके हाथ में दे दिया था। इसीलिए वे रास्ता खो बैठे थे। सन्त-महात्मा को संग्रह नहीं करना चाहिए। उनका त्याग सोलहों आने पूरा था।

० ० ०

एक समय एक वैष्णव साधु पंचवटी में आया। पहले तो उसने त्याग का बड़ा दिखावा किया, पर बाद में वह चूहे के समान नाना प्रकार की चीजें ला-लाकर बटोरने लगा——लोटे, कटोरियाँ, घड़े, अनाज, चावल, दाल, आदि आदि। ठाकुर ने यह लक्ष्य किया और वे एक दिन बोले, 'बेचारा कहीं का ! अब गिरने ही वाला है !' वह माया के बन्धन में पड़ ही जाता। पर ठाकुर ने उसे त्याग का उपदेश दिया और उससे कहा कि वह स्थान छोड़कर चला जाए। तब वह चला गया।

भक्त के लिए ठाकुर का प्रेम

एक बार बलराम की पत्नी बीमार थी। ठाकुर ने मुझसे कहा, 'कलकत्ता जाकर उसे देख आओ।' 'कैसे जा सकती हूँ ?' मैं बोली, 'कोई बग्घी या वाहन तो नहीं दिखायी दे रहा है।' ठाकुर कुछ रोषपूर्वक बोले, 'क्या ! बलराम की पत्नी इतने कष्ट में है और तुम जाने में आनाकानी कर रही हो ! तुम चलकर कलकत्ता जाओगी। जाओ, पैदल जाओ।' अन्त में एक पालकी लायी गयी और मैं दक्षिणेश्वर से रवाना हुई। मैं उसकी बीमारी में दो बार उसके पास गयी। दूसरी बार मैं रात में श्यामपुकुर से पैदल चलकर गयी थी।

बाल-भक्तों के प्रति ठाकुर का आकर्षण

छोटा नरेन ठाकुर के पास आता रहता। वह दुबला-पतला और साँवले रंग का था। चेहरे पर माता के दाग थे। ठाकुर उसे बहुत चाहते थे। जब पोटू और मणीन्द्र

ठाकुर के पास आते थे, तब वे बहुत छोटे थे--१० या ११ वर्ष के थे। एक बार काशीपुर के उद्यानभवन में होली के दिन और सब लोग तो गुलाल से होली खेलने चले गये, पर ये दोनों नहीं गये। वे ठाकुर को पंखा झलने लगे। वे बार बार हाथ बदलते। इतने छोटे थे कि कर नहीं पा रहे थे। वे ठाकुर के पैरों की मालिश करने लगे। ठाकुर को तब खाँसी थी, इससे उनके सिर में पीड़ा रहती थी। इसीलिए उन्हें हरदम पंखा झलना पड़ता था। ठाकुर दोनों बालकों से कहते रहे, 'अब तुम लोग जाओ, जाकर नीचे अबीर-गुलाल खेलो, सब लोग चले गये हैं।' पर पोटू बोला, 'नहीं, महाशय ! हम नहीं जा रहे हैं। हम यहीं रहेंगे। हम आपको छोड़कर कैसे जा सकते हैं ?'

दोनों ने जाने से इनकार कर दिया। ठाकुर अपने आंसू न रोक सके। बोले, 'अहा, ये मेरे रामलला हैं, मेरी देख-सँभाल करने आये हैं। हैं तो छोटे बच्चे, पर मुझे नहीं छोड़ेंगे, अपने आनन्द के लिए भी नहीं !'

धर्म का स्वरूप

शरदचन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

प्रश्न उठता है कि धर्म है क्या तथा उसका प्रयोजन क्या है ? 'धर्म' शब्द का शाब्दिक अर्थ लें, तो जिन गुणों को धारण करने से हमारा अभ्युदय एवं आत्मोन्नति हो सकती है, वह धर्म है। धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से जिसका अर्थ धारण करना होता है, बना है। इस अर्थ से मनुष्य-जीवन को ऊँचा उठाना तथा पवित्र बनाना 'धर्म' है। है; जो अभ्युदय एवं आत्मोन्नति दोनों का हेतु हो, वह धर्म है। कोशगत अर्थ लें, तो कर्तव्य ही धर्म है। कर्तव्य का अर्थ बड़ा व्यापक है। आचार-संहिता के अनुसार सदैव सत्य बोलना, गुरुजनों का आदर करना, दूसरों की वस्तुओं का अपहरण न करना, परस्त्री को माता मानना, अन्यों के हित की इच्छा रखना आदि यह सब कर्तव्य के ही अन्तर्गत आता है।

कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं। एक, स्वयं के लिए किये जानेवाले आवश्यक कर्म तथा दूसरा, अन्यों के लिए किये जानेवाले कर्म। अन्यों में सगे-सम्बन्धी भी आ सकते हैं। हमारे शास्त्रों में पुत्र के पिता के प्रति, शिष्य के गुरु के प्रति, पत्नी के पति के प्रति तथा इसी प्रकार के जो कर्तव्य वर्णित हैं, वे समस्त इस दूसरे प्रकार में आते हैं। केवल छोटों के बड़ों के प्रति ही नहीं, अपितु बड़ों के भी छोटों के प्रति कर्तव्य वर्णित किये गये हैं। सारे कर्तव्यों का उद्देश्य दूसरों का हित ही माना गया

है । गोस्वामी तुलसीदासजी 'मानस' में परहित को धर्म की संज्ञा देते हुए कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई ।।

हमारे शास्त्रों में धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए बताया गया है—'जहाँ धर्म है, वहाँ जय है' (यतो धर्मस्ततो जयः) । श्रीराम वनगमन के पूर्व जब माता कौसल्या से मिलने जाते हैं, तो वे यही आशीर्वाद देती हैं—'तुम धर्म का पालन करो, वही तुम्हारी रक्षा करेगा ।' इसी तरह गान्धारी दुर्योधन को 'तेरी जय हो' ऐसा आशीर्वाद न देकर 'जहाँ धर्म हो, वहाँ जय हो'—यह आशीर्वाद देती थीं । माताओं की धर्मनिष्ठा के ऐसे उदाहरण दुर्लभ ही हैं ।

'महाभारत' मे धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'वास्तविक धर्म कहता है कि जिन बातों को मनुष्य अपने लिए उचित नहीं समझता, उनका व्यवहार उसे दूसरों के साथ हरगिज नहीं करना चाहिए ।'

आचार्य मनु ने 'मनुस्मृति' में धर्म के निम्न दस लक्षण बताये हैं । इन लक्षणों के अन्तर्गत वे सारे गुण आ जाते हैं, जिनका पालन करने के लिए प्रायः सभी सन्त एवं ग्रन्थ जोर देते हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी,

विद्या, सत्य और अक्रोध--धर्म के ये दस लक्षण हैं।

अब इनके बारे में विस्तार से विचार करें---

(१) धैर्य--इस संसार में मनुष्य को सुख ही नहीं, दुःख-कष्ट और क्लेश भी भोगने पड़ते हैं। ऐसे समय मनुष्य को हिम्मत न हार हँसते हँसते उनका सामना करना चाहिए। मनुष्य के सामने कोई विपदा आने पर यदि वह उसका धैर्यपूर्वक सामना करेगा, तो वह धीरे धीरे दूर हो जायगी। धैर्य से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा स्मरण हो आती है :--

एक बार एक सन्त ने अपने प्रवचन में धैर्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए बताया कि धैर्य के कारण कोई भी कार्य असम्भव की श्रेणी में नहीं आता। उनका यह कथन समाप्त ही हुआ था कि एक श्रोता उठ खड़ा हुआ और बोला, "महाराज, क्षमा करें, मुझे आपका यह कथन जँचता नहीं। क्या कभी चलनी में से पानी ले जाना सम्भव है?" प्रश्न सुनकर सन्त मुस्करा दिये, बोले, "हाँ, सम्भव है, बशर्ते आप पानी के बर्फ में परिणत होते तक धैर्य रखें।" यह सुन वह श्रोता निरुत्तर हो गया।

महाभारत में भी एक कथा आती है। चीरहरण के पश्चात् एक बार श्रीकृष्ण द्रौपदी से मिलने गये। उन्होंनें कुशल-क्षेम पूछा, तो वह बोली, "भैया, तुमने मुझे बहिन माना है, किन्तु तुम्हारी इस बहिन की जैसी लज्जा हुई

है, वैसी शायद ही किसी स्त्री की हुई होगी। राजसभा में न कोई स्त्री बुलायी जाती है, न ही किसी स्त्री के बाल खींचे जाते हैं। जब मैंने सभा में प्रश्न किया कि धर्मराज, जो स्वयं को ही दाँव पर हार गये हैं, मुझे दांव पर कैसे लगा सकते हैं, तब किसी से इसका उत्तर देते न बना। फिर दुष्ट दु:शासन जब मेरे वस्त्र खींचने लगा, तब उपस्थित जनों में से किसी की भी इतनी हिम्मत न हुई कि वह उसका प्रतिकार करे। पाँचों पतियों की ओर देखा, तो वे सिर नीचा किये बैठे थे। अर्जुन उठने को उद्यत दिखायी दिये, तो धर्मराज ने उन्हें रोक दिया। अन्त में जब मैंने भगवान् का स्मरण किया, तब उन्होंने मेरी लाज रखी। क्या तुम्हारी इस बहिन का अपमान तुम्हारा स्वयं का अपमान नहीं है ?"

इस पर कृष्ण बोले, "कृष्णा, किसी साधारण स्त्री को कष्ट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु तुम जैसी स्त्री का घबरा जाना सचमुच हास्यास्पद है। दु:खों में ही सुख निहित रहता है। मनुष्य को इस रहस्य को ध्यान में रख धैर्य धारण करना चाहिए। मदोन्मत्त कौरवों के पाप का घड़ा फूटने पर उन्हें उसका फल भोगना ही पड़ेगा। पाण्डवों का धैर्य धारण कर शान्त बैठना स्तुत्य ही है। आज भी चाहूँ, तो तुम सबको द्वारका ले जा सकता हूँ, पर वनवास को मैं कष्टप्रद नहीं वरन् परीक्षा समझता हूँ, क्योंकि तभी तुम्हारे धैर्य की भी परीक्षा होगी।"

(२) क्षमा— मनु ने क्षमा को धर्म का द्वितीय लक्षण बताया है। कोई भी व्यक्ति वाणी या कर्म से हमें दुःख देता हो, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उससे बदला न लें, सहन करें। सहनशीलता ही क्षमा का दूसरा रूप है। बड़ों के लिए तो क्षमाशीलता अत्यन्त आवश्यक है : रहीम कवि ने ठीक ही कहा है—

क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात।
का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात।।

यानी, छोटा कितना भी महान् अपराध क्यों न करें, बड़ों का कर्तव्य है कि उस ओर दुर्लक्ष कर क्षमा करें। इसका छोटों पर भी अवश्य प्रभाव पड़ता है। हमारे भारतीय इतिहास में क्षमाशीलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दिग्विजयी सिकन्दर ने पोरस को, उसकी हाजिरजवाबी पर खुश हो, क्षमा कर मुक्त कर दिया था। पृथ्वीराज चौहान ने तो मुहम्मद गोरी को सोलह बार क्षमा कर उदारता का परिचय दिया था। इसी तरह बाजीराव पेशवा ने भी निजाम को, जो उसकी सेना द्वारा चारों ओर से घिर गया था और जिसके भूखे मरने की नौबत आयी थी, रसद की पूर्ति की थी। महाराजा रणजीतसिंह को जब एक बेर तोड़ रही बुढ़िया का पत्थर लगा, तो उन्होंने उसे क्षमा प्रदान कर इनाम दिया था। कारण पूछने पर उन्होंने कहा था, "जब एक वृक्ष पत्थर लगने पर मीठे फल दे सकता है, तो क्या पंजाब का महाराजा उसे दण्ड देगा ?"

क्षमा का असर मनुष्य पर, फिर वह कितना ही दुष्ट क्यों न हो, अवश्य पड़ता है और वह अन्ततः अपना बुरा आचरण त्याग ही देता है।

(३) दम—दम का अर्थ है दमन या रोकना। हमारा मन बड़ा ही चंचल है, वह कभी स्थिर नहीं रहता। उसे रोक रखना—इधर-उधर भटकने न देना ही 'दम' है। मन की चंचलता मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है, इसलिए उसका दमन करना आवश्यक है। हमारे मन में हमेशा विकार उठते रहते हैं, हमें उन्हें उठने न देना चाहिए। कबीरदासजी का विश्वास है कि यदि मन निर्मल रहा, तो प्रभु वश में हो जाते हैं—

कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥

बालक प्रह्लाद ने जब अपने पिता हिरण्यकशिपु की देवविरोधी प्रवृत्ति देखी, तो उसने अपने पिता से कहा था, "पिताजी, पहले आप अपने चित्त में बैठे हुए आसुर-भाव को निकालें, क्योंकि वही आपको अधर्म की ओर ले जा रहा है।" स्वामी रामदासजी ने इस मन की चंचल वृत्ति को देखकर ही उसे उद्देश्य कर २०५ श्लोक लिखे हैं, जिनके अनुसार यदि मनुष्य आचरण करे, तो उसे इस जीवन में सुख मिलेगा और मरणोपरान्त सद्गति प्राप्त होगी। तुकाराम महाराज भी मन पर अंकुश लगाने को कहते हैं—

तुका म्हणे मना पाहिजे अंकुश।

नित्य नवा दीस जागृतीचा ॥

--तुका कहता है कि मन पर हमें अकुश लगाना चाहिए, जिससे जागृति का नित्य नया दिन उदित हो।

मन को जो बात अच्छी लगती है, वह बस उसी को ओर जाना रहता है, अतः उसका निरोध करना उतना सहज नहीं। मनुष्य को काफी अभ्यास करना पड़ता है, तभी वह निर्विकारी रह सकता है। किसी सन्त की उक्ति है--

मन अपने को मार ले, कर ले योगाभ्यास।
जिससे ये दस इन्द्रियां बनी रहें निज दास ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी मन को वश में करने के लिए अभ्यास पर ही जोर देते हैं--

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता ६/३५)

श्रीमद्भगवद्गीता के षष्ठ अध्याय में मन को वश में करने की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। वहाँ पर भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन, श्वास द्वारा जप तथा भगवत्-प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन आदि चेष्टाओं को बार बार करना ही 'अभ्यास' बताया गया है।

स्वामी रामतीर्थ को सेब अत्यन्त प्रिय थे। उनका मन बार बार सेव के प्रति खिच जाता। एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि अपने इस विकार का दमन किया जाय। उन्होंने कुछ सेव लेकर अपने सामने रख दिये, जिससे वे हरदम उन्हें देखते रहें। उनका मन बार वार

सेबों की ओर जाता और वे बार बार उसे दूसरी ओर ले जाने का प्रयास करते। आठ दिनों तक यह निग्रह चलता रहा और परिणाम यह हुआ कि मन नियंत्रण में आ गया और फिर सेब के प्रति उनका लोभ कभी न रहा।

(४) अस्तेय -- 'अस्तेय' का अर्थ होता है--किसी अन्य की वस्तु न चुराना। चोरी करना अधर्म है। मनुष्य को स्वयं की वस्तुओं में सन्तोष रखना चाहिए। उसे लोभ से बचकर ईमानदारी से अपना जीविकोपार्जन करना चाहिए। अनजाने में भी किसी की, अथवा बिना उसकी अनुमति के, कोई वस्तु रखना या उसका उपयोग करना भी चोरी ही है।

पुराणों में एक कथा आती है, जिसमें एक महात्मा को, अपने भाई का एक फल बिना उसकी अनुमति लिये खानें के कारण, अपना हाथ कटवाना पड़ा था। शंख और लिखित नाम के दो मुनि थे। वे सगे भाई थे। एक बार लिखित अपने भाई के आश्रम में उनसे मिलने गये। उस समय शंख कहीं बाहर गये हुए थे। लिखित की दृष्टि बाग में लगे आम के वृक्षों पर गयी। बड़े बड़े पके आम देख उनकी इच्छा आम खाने की हुई। वे लोभ का संवरण न कर सके और उन्होंने एक आम तोड़कर खा ही लिया। शंख के आनें पर उन्होंनें जब आम के माधुर्य की प्रशंसा की, तो शंख ने स्पष्ट रूप से कहा कि विना उनकी अनुमति के आम तोड़ने के कारण उन्होंने अपराध

किया है और इसका दण्ड उन्हें मिलना चाहिए। लिखित को भी अपनी गलती महसूस हुई। वे राजा के पास गये तथा अपना अपराध सुनाकर हाथ कटवाने का दण्ड माँगा और सचमुच ही उस सन्त पुरुष ने अपना हाथ कटवा लिया।

ठीक ऐसा ही प्रसंग छत्रपति शिवाजी के गुरु दादोजी कोंडदेव के साथ भी घटित हुआ था। अन्तर केवल इतना है कि शिवाजी महाराज ने अपने गुरु का हाथ कटवाने न दिया, फिर भी दादोजी ने प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने दाहिने हाथ को कुरते की आस्तीन में कभी न डाला।

(५) शौच--शौच का अर्थ है--स्वयं को पवित्र रखना। शरीर के पालनार्थ जो नियम माने गये हैं, उनका इस तरह पालन करना कि हमारा शरीर पवित्र रहे, यही शौच है। हम अपने आप को दो प्रकार से पवित्र रख सकते हैं। एक तो बाह्य रूप से, अर्थात् शुद्ध आहार, शुद्ध जल इत्यादि द्वारा तथा दूसरे, आन्तरिक रूप से, यानी ईर्षा, लोभ, मोह, द्वेष घृणा आदि को दूर रखकर। हमारा आहार और आचार-विचार ऐसे हों कि हम अपने को पवित्र रख सकें। अन्न-जल का भी मनुष्य के मन पर प्रभाव पड़ता है और वह भी उसे पाप की ओर ले जाता है। कहा भी गया हैं--'जैसा अन्न, वैसा मन', 'जैसा आहार, वैसा विचार'। एक दोहा भी इस सम्वन्ध में प्रसिद्ध है--

जैसा अन्न-जल खाइए, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिए, तैसी वाणी होय॥

अन्न-जल मनुष्य को किस प्रकार अधर्माचरण की ओर ले जाता है, इसका एक उदाहरण हमें 'महाभारत' में दिखायी देता है--

शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह धर्मोपदेश दे रहे थे, तभी द्रौपदी को हँसी आ गयी। कारण पूछने पर वह बोली, "पितामह, आज तो आप धर्मोपदेश दे रहे हैं, किन्तु पाण्डवों के सर्वस्व हारने पर जब सभा में दुःशासन मेरे वस्त्र खींचकर मुझे नग्न कर रहा था, उस समय आप भी तो उपस्थित थे। उस समय आपका धर्म और ज्ञान कहाँ गया था? क्या आप दुःशासन को रोक न सकते थे? उस समय तो आप चुप रहे और आज धर्मोपदेश दे रहे हैं यह देख मुझे हँसी आगयी।"

तब भीष्म बोले, "सुनो द्रौपदी, धर्म-ज्ञान तो उस समय भी था, किन्तु पापी दुर्योधन का अन्न-जल ग्रहण करते रहने के कारण मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी। आज अर्जुन के बाणों के लगने से जो रक्त बह निकला, उसमें वह सारा दूषित अन्न-जल बह गया। यही कारण है कि मैं आज धर्म का विवेचन करने की स्थिति में हूँ।"

(६) इन्द्रियनिग्रह--इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने देना ही इन्द्रियनिग्रह है। हमें अपनी इन्द्रियों से वे ही कर्म करने चाहिए, जो दुराचार की ओर न ले जाते हों। अपनी वाणी से किसी को न दुखाना चाहिए,

कानों से अध्यात्म का श्रवण करना चाहिए, हाथों से सदैव पवित्र कर्म करने चाहिए। हमें हमेशा दुष्कर्मों से बचते रहना चाहिए। एक संस्कृत सुभाषित में हाथ का भूषण दान, कण्ठ का भूषण सत्यवचन तथा कानों का भूषण शास्त्रों का श्रवण बताया गया है—

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कण्ठस्य भूषणम्।
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं, भूषणैः किं प्रयोजनम्॥

एक बार महात्मा कन्फ्यूशस से येत हुई ने पूछा, "अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने के लिए क्या करना चाहिए ?" कन्फ्यूशस ने उत्तर दिया, "उनमें परस्पर ऐक्य स्थापित करना चाहिए। तुम कानों से नहीं, मन से सुनते हो, मन से भी नहीं, आत्मा से सुनते हो। तुम्हें प्रयत्न करना चाहिए कि सुनने का काम केवल कानों से ही हो। आँखों और कानों का प्रयोग अपने अन्तर को विविध दृश्यों से ज्योतित करने के लिए करना चाहिए। मन से व्यर्थ का ज्ञान कभी न करने देना चाहिए, तभी तुम इन्द्रियों को वश में कर सकते हो।"

(७) धी—शास्त्रों में वर्णित उपदेशों का सही अर्थ ग्रहण करना तथा उनका यथोचित पालन करना 'धी' की क्षमता के अन्तर्गत आता है।

(८) विद्या—विद्या से तात्पर्य ऐसे ज्ञानार्जन से है, जो हमें सदाचार की शिक्षा देता हो। यह ज्ञान हमें अपने शास्त्रों से ही प्राप्त हो सकता है। विद्या का तात्पर्य अध्यात्म विद्या से है। विद्या हमें दुर्गुणों का त्याग सिखाती

है। वह हमें मुक्ति देती है--'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या केवल सुख ही नहीं देती, वरन् उसे गुरुओं में श्रेष्ठ बताया गया है। यही नहीं, विद्याविहीन मनुष्य को पशु की संज्ञा दी गयी है--

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता।
विद्या राजसुपूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(९) सत्य – हमें सदैव सत्य बोलना चाहिए। एक बार यदि असत्य का सहारा लिया गया, तो उससे बचने के लिए कई बार असत्य बोलना पड़ेगा। फिर भी वह पचेगा नहीं, सत्य हमेशा बाहर निकल आएगा। सत्य से हमारा मन निर्मल रहता है। सत्य हमें निर्भय बनाता है--

जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।
जहाँ सत्य है, वहाँ न भय है॥

सत्य उज्ज्वल और निर्मल होता है। असत्य का सहारा लेने से मनुष्य की दुर्गति ही होती है। पुराणों में इस सम्बन्ध में एक कथा आती है। राजकुमार वसु, गुरुपुत्र पर्वत तथा नारद मुनि बाल्यावस्था में एक ही गुरु के शिष्य थे। बड़े होने पर एक बार नारदजी पर्वत से मिलने गये। उस समय पर्वत अपने शिष्यों को वेद पढ़ा रहे थे। जब पर्वत ने 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' लगाया और यज्ञ में बकरे की

वलि देने सम्बन्धी वात कही, तो नारदजी ने टोंका कि गुरुजी ने 'अज' का अर्थ 'वकरा' नहीं, बल्कि 'अ' यानी नहीं तथा 'ज' यानी जन्मता अर्थात् जो दुवारा न होता हो यानी 'पुराना धान' बताया था। पर्वत को यह अर्थ स्मरण तो हो आया, किन्तु यह सोचकर कि शिष्यों के सामने अब अपमान होगा, वे अपने ही अर्थ पर अड़े रहे। इतना ही नहीं, वे गुस्से में बोल उठे, "जिसका अर्थ गलत निकले, उसकी जीभ काट ली जाय।" बात जब पर्वत की माता को मालूम हुई, तो उन्होंने भी नारद के अर्थ की पुष्टि की, पर पर्वत ने उनकी भी एक न सुनी। तव वे दोनों राजा वसु के पास गये। राजा वसु वैसे तो सत्यवादी थे, किन्तु जव पर्वत की माता ने उनके पास आकर प्रार्थना की कि वे सत्य न बोलें और उनके पुत्र के प्राण वचाएँ, तो वे भी गुरुपत्नी के आग्रह तथा गुरु के स्नेहवश बोल उठे, "गुरुजी ने 'वकरा' अर्थ ही बताया था।" उनके मुख से ये शब्द निकले ही थे कि उनका मुख पीला पड़ गया और राजसिंहासन डोलने लगा। अन्त में उन्हें सत्य बोलना ही पड़ा।

(१०) अक्रोध--किसी भी प्राणी पर क्रोध न करना ही 'अक्रोध' है। लोभ, मोह, मद, ईर्षा की भाँति क्रोध भी एक मनोविकार है। हमारी तामसी, क्रोधी भावना हमारे मन पर प्रभाव डालती है, इसलिए हमें उसका प्रतिकार करना चाहिए, अन्यथा वह हमें चिड़-चिड़ा बना देती है, जो हमारे स्वास्थ्य और जीवन के

लिए अहितकर है। कोई हमसे यदि दुर्व्यवहार करे, तो हमें शान्त रहकर उसे सहने का प्रयास करना चाहिए। इससे उसका हृदय-परिवर्तन घटता है और कालान्तर में वह भी सदाचारी बन जाता है। सहनशीलता अक्रोध का प्रमुख लक्षण है। क्रोधी मनुष्य स्वयं का तो नुकसान करता ही है, अन्यों का भी अहित करता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को क्रोध मालूम ही न था। यदि उन्हें किसी पर क्रोध आता भी, तो वे झट से एक कलम और पत्र लेकर उसमें सारा क्रोध उँड़ेल देते। पर अन्यों की भाँति वे पत्र को डाक में न छोड़ते, बल्कि जेब में ही रख लेते। वे कहा करते थे कि पत्र लिख चुकने के उपरान्त सारा क्रोध दूर हो जाता है।

धर्म के इन दस लक्षणों पर विचार करने के बाद अब देखें कि जैन और बौद्ध ग्रन्थों में धर्म की क्या मीमांसा की गयी है। वहाँ पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्म के लक्षण माने गये हैं।

अहिंसा से तात्पर्य किसी भी प्राणी को जानें-अनजाने में दुःखी न करने से है। अहिंसा को तो जैनधर्म में परम-धर्म माना गया है। इस धर्म के सच्चे अनुयायी चींटियों एवं कीड़ों पर पैर न पड़ने देने की यथासम्भव चेष्टा करते हैं। उनके द्वारा छानकर पानी पीने का उद्देश्य भी कीटाणुओं की हत्या न होने देना ही है। बौद्धधर्म में भी अहिंसा को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। गाँधीजी को तो अहिंसा का प्रवर्तक ही माना जाता है। उनकी अहिंसा जीवों के प्रति

आन्तरिक भक्ति तथा प्रेम की अभिव्यक्ति है।

अपरिग्रह से तात्पर्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करने से है। हम जितनी वस्तुओं का संग्रह करते जाएँगे, हमारा लोभ उतना ही बढ़ता जाएगा। इसके विपरित, हम यदि उनका मोह त्यागें, तो अल्प-मात्रा में ही हमें सन्तोष प्राप्त होगा।

सन्त कुम्भनदास एक वैष्णव भक्त हो गये हैं। उनके घर की वस्तुएँ बस वही थीं, जिनके बिना उनका काम न चल सकता था। वे दर्पण के स्थान पर एक पात्र में जल डालकर काम निकाल लिया करते। जब एक बार राजा मानसिंह ने यह देखा, तो उन्होंने स्वर्णजड़ित दर्पण भिजवाया, किन्तु उस साधु पुरुष ने उसे यह कहकर लेने से अस्वीकार कर दिया कि उसके विना उनका काम चल जाता है।

ब्रह्मचर्य भी धर्म का एक लक्षण है। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य स्त्री-प्रसंग न करने से है। परस्त्री को माता मानना एवं उसके प्रति आदरभाव रखना भी ब्रह्मचर्य ही है।

वैसे धर्म तो कई हैं—जैसे, हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म इत्यादि—तथापि प्रत्येक में दार्शनिक गहनता, आध्यात्मिक तीव्रता, विचार-प्राबल्य, मानवीय सहानुभूति आदि गुण निहित हैं। प्रत्येक धर्म मानवीय गुणों के विकास में सहायक होता है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने धर्म का पालन करते हुए दूसरे धर्मों के प्रति आदरभाव रखें। स्वामी

विवेकानन्द ने कहा है—"प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिकता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे हैं।"

सारांश में, जो सत्य है, वही धर्म है। जिससे शान्ति प्राप्त होती है, जो स्वास्थ्य, आयु एवं बल को बढ़ाता है, जो एक-दूसरे के प्रति प्रेम बढ़ाता हुआ मानव-समाज को एकता की डोर में गूँथता है, वही धर्म है।

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में

"एक भक्त"

(गतांक से आगे)

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों में सबसे छोटे थे। उनके इन संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' स्वामी अखण्डानन्द के शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के एक संन्यासी है। प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के मई १९७४ अंक से गृहीत हुआ है। —स०)

२३ फरवरी, १९३६

सायंकाल ४ बजे हैं। श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव के ठीक पूर्व दिन स्वामी अखण्डानन्दजी सारगाछी से बेलुड़ मठ पहुँचे हैं। इसी पावन तिथि से 'रामकृष्ण शताब्दी महोत्सव' भी प्रारम्भ हो जायगा। बहुत से भक्त बाबा के दर्शन करने पहले ही मठ में आ पहुँचे हैं। कुछ भक्त बैठे हुए हैं और कुछ खड़े हैं। एक भक्त बाबा की सेवा के लिए उद्ग्रीव हो एक बड़ा पंखा ले उन्हें झल रहा है। स्वामी अखण्डानन्द कुर्सी में बैठे हुए हैं। उन्होंने संन्यासियों और भक्तों का अभिनन्दन किया और मुसकराते हुए बस कुछ ही शब्द बोले, "मैं उनकी इच्छानुसार आया हूँ, मेरे मन में तो आने का कोई विचार नहीं था।"

२४ फरवरी

आज सुबह से ही 'भक्त' सारा दिन मठ में बिताने के लिए तथा इस पावन पर्व पर बाबा के दर्शन करने के लिए कलकत्ते से आया हुआ है।

दुमंजिले में स्थित पुराने मन्दिर में समग्र दिवसव्यापी पूजा चल रही थी। भजन गाये जा रहे थे और भक्तों की भीड़ को देख ध्वनिविस्तारक यंत्र लगा दिये

गये थे। भक्त नर-नारी मठ के प्रांगण में जहाँ जगह मिली वहीं बैठ रहे थे। बहुत से लोग मन्दिरों के दर्शन हेतु जा रहे थे तथा अन्य बहुतेरे अध्यक्ष महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) के दर्शन कर प्रसाद के लिए रुके हुए थे।

सान्ध्य पूजा के समय वह छोटा सा मन्दिर मानो आरती के वाद्य-संगीत से गमक रहा था।

एक वरिष्ठ संन्यासी का निर्देश पा 'भक्त' ने उस रात वहीं रहने का निश्चय किया और इस प्रकार उसके बेलुड़ मठ में प्रथम रात्रि बिताने की योजना बनी। पूजनीय संन्यासी महाराज ने उससे कहा, "तुम्हारे घर के लोग अवश्य तुम्हारे लिए सोचेंगे, पर ऐसा करने से वे श्रीरामकृष्ण, स्वामीजी (विवेकानन्द) और बेलुड़ मठ के बारे में ही चिन्तन करेंगे। यह महारात्रि है। ब्राह्म-मुहूर्त में संन्यास और ब्रह्मचर्य की दीक्षाओं के लिए होम होगा। आज की रात्रि आध्यात्मिकता से गमक उठेगी। वह विवेक और वैराग्य को सहजता से उद्दीप्त कर देगी, फलतः संसार के बन्धन कट जाएँगे। पर हाँ, रात में सो मत जाना।"

पौ फटने के साथ 'भक्त' ने कुछ नये संन्यासियों फलतः ब्रह्मचारियों को देखा, जो बेलुड़ मठ को अपने नये 'आनन्द' और 'चैतन्य'* से मुखरित और प्रदीप्त कर रहे

*जो रामकृष्ण संघ की परम्परा से परिचित हैं, वे जानते हैं कि जब अन्तेवासी को संन्यास की दीक्षा दी जाती है, तो उन्हें नया नाम दिया जाता है, जिसका अन्त 'आनन्द' में होता है।

थे। 'भक्त' मन में एक नया सपना संजो कलकत्ता लौट आया।

रविवार, १ मार्च

आज श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव के उपलक्ष में सार्वजनिक महोत्सव मनाया जा रहा है। 'भक्त' अपने एक मित्र के साथ मठ आया हुआ है, पर बाबा के पास वह नहीं जा पाया है, क्योंकि उनके कमरे में जाने के सारे रास्ते बन्द हैं। लगभग साढ़े पाँच बजे 'भक्त' किसी प्रकार अखण्डानन्दजी के कमरे में पहुँचने में समर्थ हो ही गया। वह अपने साथ अपने मित्र को भी लेता गया और उसे अपने दिव्य बाबा के दर्शन कराये। बाबा भी उन्हें देख प्रसन्न हुए और एक बच्चे के समान शिकायत करने लगे—"देखते हो, सारे दिन कैसा हो-हल्ला मचा रहता है। और वे मुझे यहाँ रखना चाहते हैं! पर सारगाछी को देखो—कितनी शान्ति है! पर बात क्या है जानते हो, यह सब का सब ठाकुर का ही काम है—वे जहाँ भी मुझे रखें, मेरे द्वारा जो भी करें, सब उन्हीं की इच्छा है।"

गोधूलि वेला में 'भक्त' ने बाबा को प्रणाम किया। वह चकित हो सोचने लगा, "कैसा दिव्य रूप है, कैसा व्यक्तित्व है—क्लान्त और वृद्ध हैं सही, पर कितने शान्त

अन्य जो लोग संन्यास-दीक्षा से पूर्व ब्रह्मचर्य-दीक्षा में दीक्षित होते हैं, उनके नामों का अन्त 'चैतन्य' शब्द में होता है। 'भक्त' इन दोनों शब्दों पर एक सार्थक श्लेष करते हैं।

और सुन्दर हैं !"

५ मार्च

एक भक्त अपनी भक्ति के उच्छ्वास में बाबा से पूछ बैठा, "आप सारगाछी कब वापस जा रहे हैं ?" बाबा इस प्रश्न से चकित हुए, रुष्ट हो बोले, "मेरे जाने के बारे में पूछनेवाले तुम कौन होते हो ? मैं अभी यहाँ आया हूँ। कहाँ यहाँ रहने के लिए कहते, और कहाँ जाने की बात पूछ रहे हो !" कुछ देर मौन रहकर वे धीमे स्वर में बोले, "मैं नहीं जानता कि मैं कब जा रहा हूँ। उनकी इच्छा से यहाँ आया हूँ, उनके निर्देशानुसार मैं जाऊँगा, पर शायद ठाकुर की होली-पूर्णिमा† से पहले नहीं।" भक्तगण विदा ले रहे थे। उस दिन एकादशी थी, अतः बाबा ने उनसे नीचे जाकर 'रामनामसंकीर्तन' में भाग लेने के लिए कहा।

होली की शाम

होली के कारण 'भक्त' दिन में नहीं आ पाया। सन्ध्या उसनें पहुँचकर देखा, बाबा सभी एकत्र लोगों को बुला रहे हैं और उनके सिर पर गुलाल मल रहे हैं।

एक भक्त बिना गुलाल लगवाये बाहर चला गया था। बाबा ने उसे बुलाया और गुलाल लगाकर आशीर्वाद दिया।

० ० ०

---

†होली का सम्बन्ध सामान्यतः श्रीकृष्ण से है। यहाँ अखण्डानन्दजी श्रीरामकृष्ण की श्रीकृष्ण से एकरूपता व्यक्त करते हैं।

एक दूसरे दिन सन्ध्या 'भक्त' ने देखा कि बाबा लालबाबा आश्रम के महन्त की स्नेहपूर्वक अभ्यर्थना कर रहे हैं। उन्होंने महन्तजी को कुछ फल दिये। उन्होंने एक ही फल लिया और बाबा से हिन्दी में थोड़ा वार्तालाप कर वे जाने के लिए उठे। बाद में बाबा महन्तजी के त्याग और सेवा की प्रशंसा करने लगे।

० ० ०

एक दिन सन्ध्या आरती के बाद मठभवन में स्वामी विवेकानन्द के कमरे के उत्तर ओर के बरामदे में एक कुर्सी अखण्डानन्दजी के लिए रखी गयी। सेवक यह निश्चय नहीं कर सका कि बाबा किस ओर मुँह करके बैठेंगे, इसलिए वह कुछ चक्कर में पड़ा-सा लग रहा था। बाबा उसे कुछ डाँटते हुए-से बोले, "अरे, दक्षिणेश्वर की ओर घुमाकर रखो, यह भी क्या तुम्हें बताना पड़ेगा!"

वे मौन बैठे थे। इतने में कुछ संन्यासी और भक्त आये और उनके समीप बैठ गये। बाबा कहने लगे-- "अहा! गंगा के तीर तीर परिव्रजन करना कितना बढ़िया है। मेरे मन में एक विचार था, पर वह साकार न हो पाया। मुर्शिदाबाद के पास वह खण्डित हो गया। विचार यह था कि गंगासागर से गंगोत्री तक जाऊँ। अत्र कोई दूसरा जाए--उसके पश्चिमी किनारे चलता चलता। अब मैं इस उम्र में नहीं जा सकता, पर यदि कोई दूसरा जाए, तो मुझे खुशी होगी। चार या पाँच लोगों का दल

कल ही रवाना हो जाय। बेलुड़ से कुछ आगे जाकर वे दूसरी ओर दक्षिणेश्वर को देखेंगे, फिर मिलों और चिमनियों को। उसी प्रकार इस ओर वे श्रीरामपुर देखेंगे, फिर दूसरी ओर नैहाटी। फिर कालना, नवद्वीप, और दूसरी ओर पलासी तथा मुर्शिदाबाद। कुछ उत्तर में जाने पर पद्मा की एक धारा पूर्व की ओर जाती है। गंगा के किनारे किनारे जाओ और तीर के गाँवों से अपनी भिक्षा लो। एक पैसा भी मत रखो। पूरी तरह ईश्वर पर निर्भर रहो। रेलगाड़ी से यात्रा करना और पैसा साथ रखकर चलना--यह भला कैसी यात्रा है? तुम देश को नहीं देख पाते; लोगों से कोई सम्पर्क नहीं हो पाता; ४०० मील एक रात में ही पार कर दिया!

"फिर प्रचार। जहाँ भी जाओ, प्रभु का नाम लो, उनकी महिमा का गान करो। गंगा के किनारे तुम्हें बहुत से साधु मिलेंगे--सच्चे साधु, जो पूरी तरह ईश्वर पर निर्भर होकर जीवन बिताते हैं! यथार्थ में महात्मा--भगवान् के भक्त।

"मैंने पैसा नहीं छुआ, यात्रा करते समय भी नहीं। तभी तो स्वामीजी (विवेकानन्द) मुझे इतना प्यार करते थे। एक समय जब मैं गुजरात की यात्रा कर रहा था, तब मुझे डाकुओं ने मार ही डाला होता, अगर मेरे पास पैसा होता। अहा! वे भी कैसे दिन थे! ईश्वर पर कैसी निर्भरता थी! सब समय भगवच्चिन्तन चलता रहता था। पैसा भगवान् का विस्मरण करा देता है। ईश्वर

पर निर्भरता ही सच्ची आत्मनिर्भरता है, धन पर निर्भरता नहीं। देखते नहीं, जो धनोपार्जन करते हैं, वे यथार्थतः ईश्वर पर निर्भर नहीं हो पाते। दोनों साथ साथ नहीं जा सकते। दो नाव में एक साथ अलग अलग पाँव रखना खतरनाक है !"

० ० ०

कुछ दिन बाद की घटना है। बाबा दोपहर के भोजन के बाद कुर्सी में आराम कर रहे थे और अद्‌भुत स्मृतिशक्ति के सम्बन्ध में सच्ची घटनाएँ सुना रहे थे--

"त्रिवेणी में (हुगली जिला में बण्डेल के पास तीन नदियों का संगमस्थल) तर्कपंचानन (प्रख्यात पण्डित) के घर गया था। वहाँ मैंने उनके बारे में कहानियाँ सुनीं। दो गोरे गंगा के किनारे लड़ रहे थे। पण्डितजी नदी में स्नान कर रहे थे और उस लड़ाई की घटना के वे एकमात्र गवाह थे। उन्हें अदालत में बुलाया गया। बिना तनिक भी समझे (क्योंकि वे अँगरेजी के जानकार नहीं थे) उन्होंने शब्दशः उसी क्रम में सारे शब्द दुहरा दिये, जो उन दोनों गोरों ने कहे थे।

"सर विलियम जोन्स (महान् प्राच्यविद्या विशारद) पण्डितजी के विद्यार्थी थे। मुझे वह स्थान दिखाया गया, जहाँ उन्होंने पण्डितजी से सबक लिये थे।

"मुर्शिदाबाद के एक कलाकार ने नवाब की सवारी का चित्र आँका और वह उसे भेंट किया। चित्र के अन्तिम छोर में दो सूअरों को भागते हुए दर्शाया गया था। इससे

नवाब चिढ़ गया और चित्र का पारिश्रमिक देने से इनकार करने लगा। कलाकार रो पड़ा, बोला, "हुजूर, मैंने जो कुछ देखा, हूबहू वही अंकित किया है।" नवाब इस पर बोला, "ठीक है, हमारी सवारी फिर से निकलेगी।" इस समय उन लोगों ने सवारी का पूरा लेखा-जोखा रखा--हाथी, घोड़ों, और पैदल चलनेवालों की संख्या, यहाँ तक कि पताकाओं के रंग, ये सब लिख लिये। चित्रकार ने फिर से सवारी का चित्र खींचा और चित्र नवाब को भेंट किया। नवाब ने देखा कि चित्र उसकी सूची से पूरी तरह मेल खाता है। उसने चित्रकार को पुरस्कार प्रदान किया।

"ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो केवल एक बार किसी कविता को सुनकर पूरी की पूरी दुहरा देते हैं। एक बार मैंने एक ऐसे व्यक्ति की बात सुनी। मैं उसे देखने गया। मैंने 'विशुद्ध-विज्ञानमगाधसौख्यं ...' (प्रमदादास मित्र रचित श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र) का पाठ किया। मैंने अचरज से देखा कि उसने तत्काल वह पूरा स्तोत्र दुहरा दिया।"

अन्य एक दिन

सायंकाल ५ बजे हैं। मठभवन के दुमंजिले में स्वामी अखण्डानन्द आरामकुर्सी में बैठे हुए हैं। कुछ वरिष्ठ संन्यासी वहाँ उपस्थित हैं। स्वामी माधवानन्द ने एक चर्चा छेड़ी, "महाराज, आपने (शताब्दी के उपलक्ष में) लिखा है कि 'बोरो' धान के बीज को 'आमन' भूमि में नहीं बोया जाता। इसका क्या अर्थ है? बहुत से

लोग पूछ रहे हैं।"

स्वामी अखण्डानन्द समझाने लगे—"क्या मैंने अपनी इच्छा से वैसा लिखा है ? एक दिन तड़के ठाकुर मुझसे कहने लगे—'लिख, लिख, जैसा मैं कहता हूँ लिख।' मैंने सुना और तुरन्त लिखने की तैयारी करने लगा, जिससे कहीं भूल न जाऊँ। मैंने किसी को पुकारकर कागज-कलम लाने के लिए कहा, पर पास में उस समय कोई नहीं था। अन्त में मैंने जैसे-तैसे एक मोमबत्ती जलायी और लिखना शुरू किया। मुझे अर्थ बाद में समझ में आया। बहुत से युवक आकर मुझसे पूछते हैं, 'यदि रामकृष्ण भगवान् हैं, तो भारत स्वतंत्र क्यों नहीं हो रहा है ?' उत्तर यह है—उन्होंने निरपेक्ष होकर अपने विचारों के बीज सभी दिशाओं में बोये हैं; फसल तो जमीन के अनुसार होगी, फिर वह लोगों के परिश्रम पर भी निर्भर करेगी। उन्होंने भारत और बंगाल को यथेष्ट दिया है। वे लोग इतना ही नहीं सम्हाल पा रहे हैं ! ८०० वर्ष के गुलाम—कर भी क्या सकते हैं ? उनमें बल नहीं, शक्ति नहीं—कुछ नहीं। न तो उनमें साहस है, न निश्चय, न अनुशासन। यह कहते मुझे खेद होता है कि मेरी उन पर तनिक भी आस्था नहीं है। देखो, स्वतन्त्र देशों की मिट्टी में ठाकुर के भाव कैसे जड़ें पकड़ रहे हैं और अंकुरित हो रहे हैं। वे होंगे ही। वहाँ लोगों में बल है, शक्ति है, उत्साह है, लगन है और इन भावों के ग्रहण करने की पात्रता है।

"यही देखो न, ठाकुर के भाव हम सभी में हैं, पर व्यक्ति के अनुसार उनकी अभिव्यक्ति में अन्तर होता है। स्वामीजी (विवेकानन्द) अनन्त आधार थे, अतः वे अनन्त भावों की अभिव्यक्ति कर सके। दूसरे लोग अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार करते हैं।

"मैं सत्य कहता हूँ, मैंने जो भी अल्प पाया है, उसी में मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ। अब आरती में जाओ। हरिबोल, हरिबोल, हरिबोल!"

० ० ०

एक दिन बाबा भोजन के बाद आरामकुर्सी में लेटे हुए थे। एक युवा भक्त, कानाइ, जो बाबा से उनके बलराम मन्दिर के दिनों से, १९२२ से, परिचित था, मठ में रहना चाहता था। पर वह काम से जी चुराता। वरिष्ठ संन्यासियों में से एक ने उसे इसके लिए डाँट लगायी और भोला कानाइ आकर बाबा को वह सब बताने लगा। बाबा उससे बोले, "तू डरता क्यों है? स्वामीजी कहते थे—'भय ही सबसे बड़ा पाप है।' कायर कहीं का, जा, उस संन्यासी से मिल और उसे प्रणाम कर। साधु के क्रोध से डरना नहीं, वह तेरा भला ही करेगा। अब यदि तू एक मनुष्य से डरे और साहसपूर्वक उसका सामना न कर सके, तो मृत्यु का सामना कैसे करेगा? मृत्यु का कोई नियत समय नहीं, वह कभी भी आ सकती है, इसी क्षण आ सकती है। उपनिषद् में नचिकेता की कथा है, जो यम के पास

जाकर पूछता है, 'मृत्यु के बाद क्या!' यम उत्तर में कहते हैं, 'तुम मुझसे दूसरा कोई प्रश्न पूछ लो।' पर नचिकेता अपने इसी प्रश्न पर अडिग रहता है। देख सही, छोटासा लड़का, पर कितना साहस है। अब जरा स्वामीजी की कोई कविता सुना। क्या वह कविता याद है——'नाचे उस पर श्यामा?' बचपन में जैसा सुनाता था, सुना तो सही।"

तुरत कानाइ ने कविता सुना दी, विशेषकर अन्तिम पंक्तियों को उसने जोश-भरे कण्ठ से गाया। बाबा बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "देखा, कैसा जोर है! जो शक्ति, जो बल उसमें भरा है, उसका अनुभव करो। अहा! स्वामीजी निर्भीकता के जीवन्त विग्रह थे।"

श्रीरामकृष्ण के एक दूसरे शिष्य स्वामी विज्ञानानन्दजी रंगून से वापस आये। वे इलाहाबाद लौटने से पूर्व दो-एक दिन बेलुड़ मठ में बिताना चाहते थे। मठ में आने पर वे शाम को स्वामी अखण्डानन्द से मिले। वह एक स्वर्गिक दृश्य था——दोनों का एक दूसरे को आलिंगन-पाश में बाँधना, एक साथ ही बैठना और दो छोटे बच्चों के समान फाउंटेन पेनों के बारे में बतियाना!

विज्ञानानन्द——"तुम्हारे पास कितनी फाउंटेन पेनें हैं? एक मुझे दो।"

अखण्डानन्द——"तुम्हें क्यों दूँ? तुम्हारे पास तो बहुत सी हैं।"

विज्ञानानन्द—"अच्छा, क्या हाथीदाँत की फाउंटेन पेनें वहाँ मिलती हैं ?" . . .

फिर वे कुछ देर तक मुर्शिदाबाद के हाथीदाँत उद्योग पर बातें करते रहे। तत्पश्चात् स्वामी विज्ञानानन्द पास के अपने कमरे में चले गये।

•

पाप से बचने का रसायन

(गीताध्याय २, श्लोक ३८-३९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुखदुःखे (सुख और दुःख) लाभ-अलाभौ (लाभ और हानि) जय-अजयौ (जय और पराजय) समे (समान) कृत्वा (बनाकर) ततः (तदनन्तर) युद्धाय (युद्ध के लिए) युज्यस्व (तैयार हो जा) एवं (इस प्रकार) पापं (पाप को) न अवाप्स्यसि (नहीं प्राप्त करेगा)।

"सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझते हुए युद्ध में प्रवृत्त हो जा। इससे तुझे पाप छू न सकेगा।"

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को पिछले सात श्लोकों में लौकिक तर्कों से समझाने का प्रयास किया। ३०वें श्लोक तक उन्होंने आत्मा का तत्त्वज्ञान देते हुए अर्जुन के मोह को दूर करने की चेष्टा की। अब इस श्लोक में वे उसे वह रसायन देते हैं, जिससे वह युद्ध करता हुआ भी हिंसा से उत्पन्न होनेवाले दोषों से अछूता रह सकेगा।

अर्जुन के मन में यह पाप की भावना बड़ी दृढ़मूल हो गयी है। युद्ध में गुरुजनों और सगे-सम्बन्धियों के मारे जाने का विचार उसकी नीतिमत्ता को मथ रहा है। इसीलिए वह युद्ध करने से कतरा रहा है। परमार्थ की दृष्टि से भले ही सब आत्मा हों, पर व्यवहार की दृष्टि

से सभी जीव हैं। आत्मदृष्टि से भले पाप का प्रश्न न उठता हो, पर देहदृष्टि से धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप अवश्यम्भावी हैं। और युद्ध तो आत्मदृष्टि से हो नहीं सकता, उसके लिए देहदृष्टि अनिवार्य है। आत्मदृष्टि भले ही हिंसा-अहिंसा से परे है, पर देहदृष्टि में ये दोनों साथ चलते हैं। ऐसी दशा में युद्ध भले ही क्षत्रियों का धर्म हो, पर उसमें होनेवाली हिंसा का पाप कैसे दूर होगा, वह तो लगकर ही रहेगा, यही अर्जुन का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व को दूर करने के लिए ही श्रीकृष्ण का यह उपर्युक्त उपदेश है। इसमें आत्मदृष्टि की पारमार्थिकता तथा देहदृष्टि की व्यावहारिकता का सुन्दर समन्वय है। देहदृष्टि से तो युद्ध को धर्म्य मानकर, कर्तव्य-कर्म मानकर करना है, पर आत्मदृष्टि से उस युद्ध से होनेवाले फलों में समदृष्टि रखना है। इससे युद्ध के द्वारा होनेवाला जो आनुषंगिक पाप है, वह नहीं लग पाएगा।

आनुषंगिक उसे कहते हैं, जो मुख्य के साथ अनिवार्य रूप से चला करता है। जैसे हमने भोजन किया। उसका मुख्य फल हुआ भूख का निवारण और आनुषंगिक फल हुआ जिह्वा का स्वाद। इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया का एक मुख्य फल होता है और उसके साथ जो अन्य फल प्राप्त होते हैं, वे आनुषंगिक कहलाते हैं। युद्ध का मुख्य फल है जय या पराजय, उसका आनुषंगिक फल है हत्या का पाप। अर्जुन को आनुषंगिक फल की भावना सताती है। इसे दूर करने के लिए श्रीकृष्ण समदृष्टि का रसायन

देते हैं।

हमारे कर्म या तो वासना से प्रेरित होते हैं, या धर्म से। पाप का डर हम वासनात्मक कर्मों से होता है, धर्मप्रेरित कर्मों से नहीं। यदि अर्जुन इस इच्छा से प्रेरित होकर कर्म करता कि युद्ध जीतकर वह नाना प्रकार के भोगों का आनन्द लेगा, राज्य का भोग करेगा, तब तो ऐसे युद्ध-कर्म से हिंसा का पाप लग सकता था। पर यदि वह धर्म-बुद्धि से, कर्तव्य-कर्म मानकर, युद्ध करेगा, तो हिंसा का पाप उसका स्पर्श न कर सकेगा। जो कर्म धर्म-बुद्धि से किये जाते हैं, वे शास्त्र एवं गुरु-निर्दिष्ट होते हैं। ऐसे कर्मों में व्यक्ति की वासना चरितार्थ नहीं होती, अपितु शास्त्र एवं गुरु के आदेशों का पालन होता है। अतः ऐसे कर्मों में जो आनुषंगिक दोष होते हैं, वे व्यक्ति को छू नहीं पाते। यह कर्मयोग का रहस्य है, जिसका उत्थापन अगले श्लोक में किया गया है।

विवेच्य श्लोक में जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख में समान दृष्टि रखने की बात कही गयी है। यह मानो मन का उत्तरोत्तर संस्कार है। युद्ध का भौतिक पक्ष है जय या पराजय। उसका फल है लाभ या हानि। यह मानसिक पक्ष है। और इस लाभ या हानि का भी फल है सुख या दुःख। यह बौद्धिक पक्ष है। युद्ध में जय प्राप्त करने से राज्य का लाभ होगा, फलस्वरूप सुख मिलेगा और पराजय मिलने पर राज्य खो बैठना रूप हानि होगी और फलतः दुःख प्राप्त होगा। तो, भगवान्

कृष्ण शरीर, मन और बुद्धि तीनों स्तरों पर समदृष्टि का उपदेश देते हैं। जय और पराजय में समता का भाव शारीरिक स्तर पर साम्य की सृष्टि करेगा। जय और पराजय से मिले लाभ और हानि में समता का भाव मानसिक स्तर पर समता पैदा करेगा और लाभ और हानि से उत्पन्न सुख और दुःख में समदृष्टि का अभ्यास बौद्धिक स्तर पर समत्व की स्थापना करेगा।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि जय और पराजय में समत्व बुद्धि कैसे लायी जाय ? देखा जाता है कि जैसे पराजय व्यक्ति की हताशा और उसके मानसिक असन्तुलन का कारण बनती है, वैसे ही विजय भी उसमें उल्लास और मद की सृष्टि कर उसके मानसिक सन्तुलन को डाँवाँडोल कर देती है। दोनों ही स्थितियों से बचना है। यह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति कर्तृत्व अपने ऊपर न ले और अपने कर्म की प्रेरणा शास्त्र, गुरु और ईश्वर को माने। प्रत्येक धर्मनिष्ठ क्रिया का आधार शास्त्र, गुरु और ईश्वर ही होता है। उसमें अपने अहंकार का पोषण नहीं होता, गुरु और शास्त्र की आज्ञा के पालन की भावना होती है, ईश्वर के प्रति समर्पित होने का भाव होता है। यह भाव ही जय और पराजय में सम-दृष्टि लाने में सहायक होता है। फिर वही लाभ और हानि में भी मन के सन्तुलन को बिगड़ने नहीं देता। यदि लाभ मेरे लिए ईश्वर की इच्छा से आता हो और यदि हानि में भी मैं उसी मंगलमय प्रभु का संकेत देखता

होऊँ, तब दोनों ही मेरे लिए समान मूल्य रखनेवाले बन जाते हैं। ऐसी दशा में न लाभ से उत्पन्न सुख मेरी बुद्धि को चंचल कर पाता है और न हानि से उत्पन्न दुःख मुझे हताशा से घेरकर जड़ ही बना पाता है। ऐसी भावना से युक्त होकर कर्म करने पर व्यक्ति कर्म के आनुषंगिक दोष से लिप्त नहीं होता। उसकी यह भावना उस दोष को सोखने का रसायन बन जाती है।

भगवान् कृष्ण अर्जुन को यही रसायन प्रदान करते हैं। यह रसायन 'कर्मयोग' कहलाता है और गीता ने इसे सामान्य तौर पर केवल 'योग' शब्द से अभिहित किया है। इसका मुख्य सिद्धान्त यही है कि राग-द्वेष के बिना समत्व-बुद्धि से कर्म करते रहना चाहिए। यदि स्वधर्म भी राग-द्वेषपूर्वक किया जायगा, तो वह अवश्यमेव बन्धन होगा और फलस्वरूप वह आत्मज्ञान में सहायक नहीं हो सकेगा। उल्टे, वह बुद्धि में विकार पैदा करेगा और आत्मज्ञान का पथ विघ्न-बाधाओं से भर जायगा।

कई व्याख्याकार यह मानते हैं कि इस श्लोक से कर्मयोग का प्रकरण प्रारम्भ हो गया। पर वस्तुतः वह तो अगले श्लोक से शुरू होता है, क्योंकि भगवान् वहीं पर 'योग' के उपदेश की उद्घोषणा करते हैं। तथापि यह भी सत्य है कि विवेच्य श्लोक कर्मयोग के रसायन को प्रस्तुत करता है। इसकी संगति यों मानकर की जा सकती है कि यह मध्य का श्लोक है और इसे दोनों ही ओर लगाया जा सकता है। इसके पूर्व तक आत्मनिरूपण

का प्रकरण चला और इसके बाद से कर्मयोग का प्रकरण प्रारम्भ हो गया। वैसे कहा जा चुका है कि दूसरा अध्याय सूत्ररूप है। इसमें सभी मार्गों के संकेत कर दिये गये हैं। आगे के अध्याय इन्हीं सूत्रात्मक संकेतों की विस्तार से व्याख्या करते हैं।

तो, इस दूसरे अध्याय में तीसवें श्लोक तक आत्म-ज्ञान का प्रकरण चला। बाद के आठ श्लोकों में इस बात का संकेत किया गया है कि आत्मा को अलेप मानते हुए कर्म किस प्रकार किये जायँ। आत्मा के स्वरूप का शाब्दिक ज्ञान हमें आत्मा की अनुभूति नहीं प्रदान कर सकता, और जब तक आत्मानुभूति न हो, तब तक हम संसार-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। जैसे 'दवा, दवा' कहने से रोग दूर नहीं होता, रोग दूर करने के लिए दवा का सेवन करना पड़ना है; अथवा, जैसे 'भोजन, भोजन' करने से भूख दूर नहीं होती, भूख दूर करने के लिए हमें भोजन ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही आत्मा का शाब्दिक ज्ञान हमारे मोह-शोक को दूर नहीं कर सकता। उसके लिए इस शाब्दिक ज्ञान को 'विज्ञान'—स्वानुभवसंयुक्त ज्ञान—बना लेना पड़ता है। इसके लिए अर्थात् ज्ञान को अनुभूति में परिवर्तित करने के लिए, चित्त का शोधन करना पड़ता है और यह शोधन बिना कर्म के नहीं हो सकता। इसीलिए कर्म आवश्यक है, तब तक जब तक ज्ञान का अवसान अनुभूति में नहीं हो जाता। ऐसा आवश्यक और अनिवार्य कर्म किस पद्धति से

किया जाय, यह कर्मयोग हमें सिखाता है। इसीलिए आत्मज्ञान की भूमिका देकर अब भगवान् कृष्ण कर्मयोग का प्रकरण प्रारम्भ करने की इच्छा से कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

पार्थ (हे पार्थ) सांख्ये (सांख्य के विषय में) एषा (यह) बुद्धिः (ज्ञान) ते (तुझे) अभिहिता (कहा गया है) तु (पर) [अब] योगे (योग के विषय में) इमां (यह) [ज्ञान] शृणु (सुन) यया बुद्ध्या (जिस ज्ञान से) युक्तः (युक्त होने पर) कर्मबन्धं (कर्म का बन्धन) प्रहास्यसि (काट डालेगा)।

"हे पार्थ! यह तुझे सांख्य सम्बन्धी बुद्धि बतलायी गयी, पर अब तू योग सम्बन्धी बुद्धि सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन को काट लेगा।

यहाँ पर भगवान् 'सांख्य' और 'योग' इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। सामान्यतः 'सांख्य' कहने से महर्षि कपिल के 'सांख्य दर्शन' का बोध होता है और 'योग' कहने से महर्षि पतञ्जलि के 'योगदर्शन' का। पर यहाँ गीता में उक्त दोनों शब्दों को परम्परागत अर्थ में नहीं लिया गया है। यही गीता की विशेषता है। वह प्राचीन शब्दों का उपयोग तो करती है, पर उनका वह एक मौलिक अर्थ रखती है। उसने वेदों के 'कर्म', 'यज्ञ' इत्यादि शब्दों को लिये तो हैं, पर उनका सर्वथा एक मौलिक अर्थ किया है, जो जीवन के लिए अधिक उपयोगी है। वेदों का कर्मकाण्ड, यज्ञ-अनुष्ठान इतना जटिल है कि उनको समझना भी आज लोगों के लिए दुरूह है,

पर गीता इन्हों शब्दों को अपनाकर उन पर ऐसी व्याख्या करती हैं, जो व्यावहारिक और हमारे अनुकूल है। तो, 'सांख्य' शब्द का उपयोग गीता 'सांख्यदर्शन' के रूप में न कर 'ज्ञान' के रूप में करती है, तथा 'योग' का अर्थ 'कर्मयोग' करती है, 'योगदर्शन' नहीं। इस पर थोड़ी मीमांसा लाभदायक होगी।

यहाँ 'सांख्य' का अर्थ 'सांख्य दर्शन' नहीं लिया जा सकता, क्योंकि सांख्यदर्शन प्रकृति को स्वतंत्र मानता है और ईश्वर को न मानता हुआ, पुरुष को स्वीकार करता है और उसे अकर्ता मानता है। पर गीता में प्रकृति को स्वतंत्र नहीं माना गया है। स्वयं भगवान् कहते हैं-- 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्,' ९/१० (मुझ अधिष्ठाता के द्वारा प्रकृति चराचर जगत् को सृष्ट करती है), 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया', ४/६ (अपनी प्रकृति को वश में करके अपनी लीला से मैं अपने आपको प्रगट करता हूँ), 'दैवी ह्येषा गुणमयी मय माया दुरत्यया', ७/१४ (यह मेरी गुणमयी दैवी माया पार करने में अत्यन्त कठिन है), आदि आदि। फिर, सांख्य में पुरुष अकर्ता है, जबकि गीता में भगवान् सम्पूर्ण कर्तृत्व अपने ऊपर लेते हैं। यथा--'अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते', १०/८ (मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, मुझसे सब कुछ निकला है), 'अहं कृत्स्नस्य: जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा', ७/६ (मैं ही समस्त जगत् की उत्पत्ति और विनाश का कारण हूँ), इत्यादि। अतएव यह तो

निश्चित है कि विवेच्य श्लोक का 'सांख्य' शब्द 'सांख्य-दर्शन' की अर्थव्यंजना नहीं करता। तब 'सांख्य' का अर्थ क्या है ?

अधिकांश व्याख्याकार 'सांख्य' शब्द का अर्थ पर-तत्त्वज्ञान ही करते हैं। 'ख्या' धातु में (सम्' उपसर्ग लगाकर संख्या शब्द बनता है और उसमें 'अण्' प्रत्यय लगा देने से वह 'सांख्य' हो जाता है। यह सम्यक् ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान का ही बोधक है। भगवान् भाष्यकार 'सम्यक् ख्यायते इति संख्या, तदेव सांख्यम्' ऐसी व्युत्पत्ति मानकर सांख्य शब्द का अर्थ 'परमार्थवस्तु-विवेक' करते हैं। इससे विवेच्य श्लोक का अर्थ ऐसा होगा कि 'अभी तुझे परमार्थ और अपरमार्थ दोनों का विवेक करनेवाला ज्ञान बताया है'।

अन्य कई व्याख्याकारों ने लक्षणा के द्वारा उपनिषद्-प्रतिपादित आत्मतत्त्व को 'सांख्य' पद का अर्थ माना है। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों से 'सांख्य' शब्द की व्याख्या करने पर भी अर्थ तो एक ही निकलता है-- आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान। फिर, स्वयं गीता इन शब्दों का अर्थ अन्यत्र स्पष्ट कर देती है--

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। ३/३

--'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में मेरे द्वारा पहले दो निष्ठाएँ कही गयी हैं, ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों की और कर्मयोग के द्वारा योगियों की।'

अतः 'सांख्य' और 'योग' शब्दों से भ्रमित होने का कोई कारण नहीं। शंकराचार्य 'योग' शब्द के अन्तर्गत ईश्वराराधनपूर्वक अनासक्ति से किये गये कर्म और पातंजल योग में बतायी गयी चित्त की एकाग्रता रूप समाधि इन दोनों को लेते हैं। वे प्रस्तुत श्लोक पर भाष्य करते हुए कहते हैं—'योगे तु तत्प्राप्ति-उपाये निःसंगतया द्वन्द्व-प्रहाणपूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे च'। वे कर्मयोग की तीन विशेषताएँ बताते हैं—(१) निःसंगतया—आसक्ति से रहित होकर, (२) द्वन्द्व-प्रहाणपूर्वकम्—द्वन्द्वों का त्याग करते हुए, (३) ईश्वराराधनार्थे—ईश्वर की आराधना के लिए। जब कर्म इन तीन विशेषताओं या लक्षणों से युक्त होता है, तब वह कर्मयोग बनता है। इसका विशद विवेचन तीसरे अध्याय में किया गया है। इसके साथ ही समाधियोग का भी अभ्यास करना चाहिए, जिसका निरूपण छठे अध्याय में किया गया है। समाधियोग यानी पतंजलि ऋषि प्रणीत अष्टांगयोग, जिसके अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग आते हैं। भगवान् कृष्ण का आशय यह था कि हे अर्जुन, मैंने तुझे शोक और मोह से बचने के लिए आत्मा के तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। पर यदि यह उपदेश तेरी बुद्धि में अभी नहीं बैठता है, तो कर्मयोग और यम-नियम आदि अष्टांग योग का अभ्यास कर। इससे बुद्धि स्वच्छ होगी, जिससे उसमें आत्मज्ञान के धारण की क्षमता

आएगी। यद्यपि आत्मज्ञान की प्राप्ति के प्रमुख साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन हैं, तथापि यदि मन मैला हो, तो श्रवण में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। श्रवणादि साधन अन्तरग हैं और कर्मयोग बहिरंग साधन हैं। अन्तरग साधनों में मन तभी उन्मुख होता है, जब उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। चित्त को सत्त्वगुणी बनाने के लिए कर्मयोग का अभ्यास आवश्यक है। उससे बुद्धि निमल होती है और उसका झुकाव आत्मज्ञान की ओर होता है। इस प्रकार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानयोग है और कमयोग का उपदश ज्ञान में अधिकार प्राप्त कराने के उपाय के रूप में प्रदत्त हुआ है। गीता म अन्यत्र (४/३३) कहा भी है--'सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'--'हे पार्थ, सारे कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है।'

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीभगवान ज्ञान को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, तथापि वे यह भी समझते हैं कि ज्ञान की पात्रता सभी में नहीं रहती इस पात्रता को अर्जित करने के लिए व्यक्ति को कर्मयोग क रास्ते से जाना पड़ता है। ज्ञानयोग का रास्ता सामान्यतः संन्यास का, निवृत्ति का रास्ता है और कर्मयोग का पथ गार्हस्थ्य में से, प्रवृत्ति में से जाता है। अर्जुन संन्यास की बात करता तो है, पर संन्यास जिस ज्ञान पर खड़ा होता है, उस ज्ञान की उसके जीवन में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। यह उसके व्यवहार से स्पष्ट है। तभी तो भगवान् ने उसे 'प्रज्ञावादी' कहकर तिरस्कृत किया। भगवान् का तात्पर्य

यह है कि अर्जुन, तुझमें यदि सन्यास की पात्रता होती, तो ज्ञान का यह विरोध तेरे जीवन में नहीं दिखायी देता। और देख, ज्ञान की पात्रता हरएक में चट से नहीं आ जाती, उसे वह पात्रता कर्मयोग के द्वारा अर्जित करनी पड़ती है। तुझमें उस पात्रता का अभाव है। तू संन्यास की ओर जाने से पहले इस पात्रता को कर्मयोग के द्वारा अर्जित कर। यही विवेच्य श्लोक में 'तु' शब्द का तात्पर्य है। 'तु' कहकर भगवान् ने दोनों रास्तों को अलग कर दिया। एक है सांख्य का रास्ता और दूसरा है योग का रास्ता। अभी अर्जुन के लिए 'योग' का रास्ता ही लाभदायक होगा। कर्मयोग के द्वारा जब कर्म का दोष कटता है, तब चित्त का मल दूर होता है और तब उसमे आत्मा को झलकाने की पात्रता आती है। शंकराचार्य इस क्रम को गीता पर अपने 'सम्बन्ध-भाष्य' में यों रखते हैं— 'अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमान् च उद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वम् अपि प्रतिपद्यते'— 'अभ्युदय यानी सांसारिक उन्नति के लिए जो प्रवृत्तिरूप धर्म वर्णाश्रम को देखते हुए निर्दिष्ट हुआ है, वह यद्यपि स्वर्ग की प्राप्ति में कारण बनता है, तथापि जब उसका अनुष्ठान फल की आकांक्षा न करते हुए ईश्वरार्पित बुद्धि से किया ज़ाता है, तो वह सत्त्व की

शुद्धि का कारण बनता है। शुद्धसत्त्व व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है और यह ज्ञाननिष्ठा उसमें ज्ञानोत्पत्ति का हेतु बनती है, जिसके फलस्वरूप वह अन्त मे निःश्रेयस् यानी आध्यात्मिक कल्याण का अधिकारी होता है ' इस प्रकार शंकराचार्य कर्मयोग की सार्थकता अपने भाष्यों एवं अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार, जब कर्म अनासक्त होकर, भगवत्समर्पित बुद्धि से किया जाता है, तो वह कर्मयोग बनता है। यह कर्मयोग चित्त का शोधन करता है। ऐसे शुद्ध चित्त में ज्ञान में निष्ठित रहने की योग्यता जन्म लेती है। यह ज्ञाननिष्ठा क्रमशः ज्ञान में परिपक्व होती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अन्त में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर धन्य हो जाता है। तब उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि शंकराचार्य मुक्ति में कर्मयोग की सामर्थ्य नहीं देखते। मुक्ति की यह सामर्थ्य केवल ज्ञान में है। उनके अनुसार कर्मयोग चित्त को शुद्ध कर ज्ञान-अर्जन की पात्रता दे सकता है, बस यहीं तक उसकी गति है। अतएव जिसने ज्ञानलाभ कर लिया, उसके लिए, शंकराचार्य की दृष्टि में, कर्म का महत्त्व नहीं रह जाता। इसके विपरीत, लोकमान्य तिलक यह मानते हैं कि व्यक्ति को ज्ञानलाभ के पश्चात् भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिए। गीता भी वस्तुतः इसी अर्थ को ध्वनित करती है। श्रीभगवान् कहते हैं--

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन कर्तुमर्हसि ।। ३/२०
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम ।। ३/२५

——जनक आदि लोगों ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। फिर, लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुझे कर्म करना चाहिए।'

——'हे भारत ! जैसे अबुध-अज्ञानी लोग कर्मों म आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ही आत्मवेत्ता विद्वान को आसक्ति से रहित होकर लोकसंग्रह करने की इच्छा से कर्म करना चाहिए।'

लोकमान्य तिलक ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग' को गीता का प्रतिपाद्य मानते हैं। वे इस बात में शकराचार्य से सहमत हैं कि मोक्ष केवल ज्ञान से प्राप्त होता है, पर वे कर्मयोग को केवल ज्ञान का उपायभूत ही नहीं, बल्कि ज्ञान के बाद भी जीवनपर्यन्त अनुष्ठय मानते ह। ज्ञानलाभ के पहले कर्मयोग भले ही थकावट का कारण बनता हो, पर ज्ञानलाभ के पश्चात तो वह स्फूर्ति और ताजगी प्रदान करनेवाला रसायन बन जाता है। जस, जब हम तैरना सीखते हैं, तो तैरने की क्रिया हममें थकावट और अवसन्नता लाती है पर जब हम तैरना साख जाते हैं, तो तैरकर थकावट दूर किया करते हैं। यदि हम कभी बहुत थक गये, अवसन्न हो गये तो कहते हैं——'चलो, जरा तैर आएँ ' कर्मयोग भी ठीक ऐसा ही

है। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक कर्म भी बने रहते हैं-- ज्ञानलाभ के पूर्व साधना के रूप में और तत्पश्चात् लोकसंग्रह के रूप में। कर्म को छोडा नहीं जा सकता। जब तक हममें छोड़ने की बुद्धि होती है, तब तक कर्म नहीं छूटते।

श्रीरामकृष्ण से जब भक्त पूछते थे, "महाराज, कर्म और कब तक करें ? वे कब छूटेंगे ?" तो वे इसके उत्तर में कहते थे, "कर्म को छोड़ने की चिन्ता तुम क्यों करते हो ? तुम उनकी (ईश्वर की) ओर बढ़े जाओ। प्रयोजन समझकर वे तुम्हारे कर्म कम करते जाएँगे।" वे गर्भवती बहू का उदाहरण देते थे जिसकी सास धीरे धीरे उसके काम-काज कम करती जाती है। जब प्रसव-काल समीप आता है, तो सास उसका काम एकदम कम कर देती है और प्रसव के बाद तो वह अपने बच्चे को लेकर ही व्यस्त रहती है। इसी प्रकार जब व्यक्ति ईश्वर की ओर जाता है, तो ईश्वर उसका कर्म उसी परिमाण में कम करते जाते हैं. जिस परिमाण में उसकी साधना की तीव्रता होती है। और जब वह केवल भगवान को ही लेकर डूब जाता है, तब भगवान् उसके सांसारिक कर्मों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

श्रीरामकृष्ण इस कर्मत्याग की बात को समझाने के लिए एक दूसरा दृष्टान्त देते थे। जैसे घाव सूख रहा है, उस पर पपड़ी जम गयी है। पपड़ी को जबरदस्ती निकालने की जरूरत नहीं। और यदि कोई बलपूर्वक

पपड़ी को निकाल दे, तो घाव सूखेगा नहीं बल्कि हरा हो जायगा। घाव के सूखने पर पपड़ी को निकालने की आवश्यकता न होगी। वह अपने आप झर जायगी। सोते में या चलते में कब पपड़ी झर गयी इसका पता तक न चलेगा। इसी प्रकार कर्मों की पपड़ी को जबरदस्ती जो उतारने जाता है, वह कभी कर्म से मुक्त नहीं हो पाता। हम जब कर्मयोग का अभ्यास करते हुए ईश्वर की ओर आगे बढ़ चलेंगे, तो एक दिन कर्मों की पपड़ी अपने आप झर जायगी।

यही कर्मबन्धन से मुक्त होने की अवस्था है। प्रस्तुत श्लोक में भगवान् कृष्ण इसी प्रकरण का उत्थापन करते हैं और अर्जुन से कहते हैं--- अब तक तो तुझे मैंने सांख्य की बुद्धि दी, आत्मज्ञान का उपदेश दिया, पर अब योग की बुद्धि देता हूँ, जिससे युक्त होकर तू कर्मबन्धन को काटने में समर्थ हो सकेगा और पाप से मुक्त हो जायगा। वास्तव में यह कर्मयोग पाप से मुक्त करने का सक्षम रसायन है, जिसका उपदेश श्रीभगवान् प्रस्तुत श्लोक से प्रारम्भ करते हैं। अगले श्लोकों में वे इस निष्काम कर्मयोग की विशिष्टताएँ प्रदर्शित करते हैं, जिनकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

•

सान्त्वना

स्वामी रामकृष्णानन्द

(गतांक से आगे)

(प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित पुस्तिका CONSOLATIONS का अनुवाद है। इसमें श्रीरामकृष्ण देव के उन अन्यतम संन्यासी-शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी के प्रेरक पत्रांशों का संग्रह है, जिनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "शशि मठ का मुख्य आधारस्तम्भ था। उसके बिना मठ में जीवन असम्भव होता। वह मठ की माता था।"––सं०)

स्वयं से असन्तुष्ट न होओ। तुम ईश्वर की सन्तान हो, और स्वय के प्रति असन्तुष्ट होकर तुम ईश्वर की सन्तान के प्रति ही असन्तुष्ट होते हो। क्या यह बरा नहीं है? अतः स्वयं का सम्मान करो, क्योंकि तुम ईश्वर के पुत्र हो और तुम्हें उत्पन्न कर उसने कोई गल्ती नहीं की है, क्योंकि वह सभी गल्तियों से परे है। अतएव वह तुम्हारे द्वारा अवश्य ही कुछ कराएगा, ऐसा कुछ जिसके लिए वह तुम्हें इस पृथ्वी पर ले आया है। ईश्वर के प्रति तुम्हारा अनुराग जितना बढ़ेगा, उतनी ही तुम्हारी वासना कम होती जायगी। सदैव सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करो। सत्यवादी और अच्छे बनो तथा विषय-भोगों की आकांक्षा न रखो। इसे ही तुम अपना लक्ष्य और आदर्श बना लो। कठिन संघर्ष करो और यदि इस संघर्ष के बीच तुम्हारे पैर फिसल जायँ तथा तुम कई बार गिर भी जाओ, तो उससे क्या? पुनः उठ पड़ो और संघर्ष करते रहो। निश्चिन्त रहो, अन्त में तुम विजयी होओगे। जब तक

तुम पूर्ण न हो जाओ, अर्थात् तुम जो होना चाहते हो वह न हो जाओ, तब तक कभी संघर्ष न छोड़ो । भगवान् श्रीरामकृष्ण सभी विपत्तियों से तुम्हारी रक्षा करें तथा तुम्हें सुरक्षित और स्वस्थ रखें ।

हाँ, अपने निर्णय में तुम सही हो । यहाँ हमें किसी प्रकार अपना जीवन चलाना है, चाहे भिखारी के रूप में हो, चाहे राजा के रूप में । किन्तु हमारा आदर्श और लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम जहाँ भी रहें, भगवान् श्रीरामकृष्ण को कभी न भूलें । यह भी सत्य है कि हम जहाँ कहीं भी रहें, ईश्वर हमें नहीं त्यागते । वे प्रभु ही हमें जीवन के एक स्तर से दूसरे स्तर पर ले जाते हैं । इसे जानकर प्रसन्न रहो । प्रतिदिन मैं तुम्हारी याद करता हूँ और अपने गुरु महाराज से तुम्हारे लिए प्रार्थना करता हूँ । चूँकि तुम्हारे पास भगवान् श्रीरामकृष्ण का चित्र है, अतः मेरा यही परामर्श है कि उन्हें भगवान् के अवतार के रूप में ही देखो । उनके चित्र के सामने प्रार्थना करो और निश्चय जानो कि तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी । उनसे अधिक दयालु और कोई नहीं है । ओह ! जब कभी मैं उनकी महिमा और महानता का स्मरण करता हूँ, तब तुरन्त ही आनन्द में विभोर हो जाता हूँ । ऐसा न सोचो कि वे तुम्हारे साथ नहीं हैं । वे सदैव ही उन लोगों के पास हैं, जो अच्छे हैं, और चूँकि तुम बहुत अच्छे लड़कों में से एक हो, इसलिए मैं कह सकता हूँ कि प्रलोभनों से तुम्हारी रक्षा करने के लिए वे सदैव तुम्हारे साथ हैं ।

उनका चित्रपट उनकी सजीव आत्मा है। उसे केवल एक चित्रपट ही न समझो। यह उनकी सजीव आत्मा है। यदि सम्भव हो, तो फूल, धूप आदि उन्हें अर्पित करो। यदि न हो तो अपने हृदय का तीव्र प्रेम और पश्चात्ताप-रूपी फूल उन्हें चढ़ाओ। समस्त संसार जितने फूल और धूप उत्पन्न कर सकता है, उन सबकी ढेरी की अपेक्षा पश्चात्तापपूर्ण हृदय के चढ़ावे को वे अधिक पसन्द करते हैं। यदि तुम सच्चे हृदय से उनसे सहायता की याचना करो, तो वे निश्चय ही तुम्हारी सहायता करेंगे। वे प्रेम और करुणा के अवतार हैं।

मेरे अनियमित पत्र-व्यवहार से यह न समझ लो कि मैं अपने मित्रों को नहीं चाहता हूँ। प्रेम शारीरिक की अपेक्षा मानसिक अधिक होता है। मैं अपने गुरुदेव से सदैव ही तुम पर और तुम्हारे स्वजनों पर आशीर्वाद की वर्षा करने की प्रार्थना करता हूँ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "जैसे पानी का कोई रूप नहीं होता, उसे जिस पात्र में रखो उसी आकार का हो जाता है, वैसे ही ईश्वर का कोई विशेष रूप नहीं है।" पर ईश्वर प्राणीमात्र के ईश्वर हैं, इसलिए तुम्हें उन्हें मनुष्य के रूप में ही सीमित नहीं करना चाहिए। यदि तुम्हारे पिता एक विदेशी का वेश धारण कर लेते हैं, तो इसके कारण वे तुम्हारा सम्मान और श्रद्धा नहीं खो देते। अतः, ईश्वर का कोई भी रूप क्यों न हो, तुम्हें सदैव उनसे प्रेम करना चाहिए, क्योंकि वे 'तुम्हारे' ईश्वर हैं।

निस्सन्देह ईश्वर के किसी विशेष रूप को कोई व्यक्ति अपनी इष्टमूर्ति के रूप में प्यार कर सकता है। वैष्णव कृष्ण-रूप को चाहता है, शाक्त शक्ति-रूप को, आदि आदि। उनका जो रूप तुम्हें सबसे अच्छा लगे, उसमें ही उनकी पूजा करो। जैसे हिन्दू परिवार की बहू परिवार के सभी सदस्यों के प्रति श्रद्धा रखती है, किन्तु पति से उसका विशेष प्रेम-सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार तुम्हें ईश्वर के विभिन्न रूपों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए, किन्तु तुम्हारे जीवन का एकमात्र ईश्वर तो तुम्हारे इष्ट-देवता ही होने चाहिए।

यह बहुत अच्छा है कि श्रीरामकृष्ण के प्रति तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति है। ऐसी बात नहीं कि उनकी पूजा करने से तुम माँ के भक्त नहीं रह जाते, क्योंकि श्रीरामकृष्ण तो शक्ति के ही प्रकट रूप हैं। शक्ति जो कि असीम है और इसलिए अगम्य है, उसी ने सर्वसुलभ होने के लिए इस युग में श्रीरामकृष्ण का सौम्य रूप धारण किया है। इस युग के प्रारम्भ में जब उसने श्रीकृष्ण का रूप धारण किया था, तब युग युग में अपने अवतार लेने का कारण बताया था——

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

श्रीरामकृष्णदेव के अधिकांश शिष्यों ने अपने गुरुदेव के पार्थिव देहत्याग के पश्चात् भी उनके दर्शन किये हैं, और यदि उनके दर्शन की तुम्हारी इच्छा सच्ची है, तो

वे अवश्य ही तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे। ईश्वर के विभिन्न रूप रूपकमात्र नहीं हैं, वे सत्य हैं। निर्विकल्प समाधि में न तो सृष्टि ही रहती है, और न स्रष्टा, वहाँ पूजा भी नहीं है। उसे अभी हम छोड़ दें, क्योंकि नमक का पुतला समुद्र में मिल गया है। किन्तु जब तक हमारा क्षुद्र व्यक्तित्व है, तब तक हमें साकार ईश्वर की आवश्यकता है। जगत् का रचयिता ईश्वर सदैव साकार है और उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति उतनी ही सत्य है, जितना वह स्वयं। पूजा ईश्वर के साकार रूप में ही सम्भव है। मैं तुम्हें यही पद्धति ग्रहण करने का परामर्श देता हूँ। श्रीरामकृष्ण के लिए जिओ और कार्य करो तथा मन-प्राण पूर्वक उनकी पूजा करो और इस प्रकार इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लो। उन्हें साक्षात् ईश्वर के ही रूप में देखो। पिता और पुत्र अथवा माता और सन्तान के बीच कोई अन्तर नहीं है। यदि मनुष्य पत्थर की प्रतिमा की पूजा करके मुक्ति पा सकता है, तो ईश्वर की जीवित प्रतिमा की पूजा द्वारा लक्ष्य पर उसके पहुँचने की अधिक सम्भावना है। तुम सीधे ईश्वर की पूजा नहीं कर सकते, क्योंकि इन देवमानवों को छोड़कर उसकी धारणा ही नहीं कर सकते। यदि श्रीरामकृष्ण की तरह देवमानव यहाँ जन्म न लें, तो ईश्वर के बारे में कौन क्या जान सकता है? वे लोग आध्यात्मिक जगत् के कोलम्बस हैं।

बिना जड़ों के वृक्ष नहीं होता। बिना भीतर के बाहर नहीं होता। तुम्हें अपने भीतर और बाहर दोनों

जगह उसकी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान है। वह मूर्ति में भी उतना ही है, जितना तुम्हारे भीतर। अपने को उसकी सन्तान या सेवक के रूप में उससे भिन्न मानकर सर्वत्र उसकी पूजा करो। द्वैतवादी कहता है, "मैं ब्रह्म का हूँ;" अद्वैतवादी कहता है, "मैं ब्रह्म ही हूँ।" इन दोनों कथनों में विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्म का है, वह ब्रह्म के साथ एक भी है। जीव-ब्रह्म-ऐक्यानुभूति केवल निर्विकल्प समाधि में ही होती है। और जैसा कि मैंने तुम्हें बताया ही है, वहाँ पूजा नहीं होती। सम्पूर्ण मन-प्राण पूर्वक भक्ति ही उसकी उपलब्धि का एकमात्र उपाय है। यह सामान्य और विशेप दोनों प्रकार की शिक्षा है। श्रीरामकृष्ण के प्रति मन-प्राण पूर्वक भक्ति रखो। तुम ठीक कहते हो ... "वे तभी आते हैं, जब हमारा क्षुद्र अहंकार नष्ट हो जाता है।" हमारे भीतर का पशु, हमारा क्षुद्र अहं जो स्वयं को दुर्बल और पापी समझता है, उसका बलिदान 'नर-बलि' के नाम से जाना जाता है। यह एक वास्तविक वीर के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि 'जितं जगत् केन मनो हि येन'—'किसके द्वारा संसार जीता जाता है? उसके ही द्वारा, जिसने अपने मन को जीत लिया है।'

जो धर्म दुर्बलता पर आधारित है, वह पूर्णतः मिथ्या और हानिप्रद है। श्रुति कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—'दुर्बल के द्वारा आत्मोपलब्धि नहीं की जा सकती।' यदि मैं ईश्वर की सन्तान हूँ, तो उसी की

जाति का हूँ और यदि वह पूर्णतः पवित्र है, तो मैं भी पूर्णतः पवित्र हूँ। अतः सचमुच यदि तुम ईश्वर को प्रेम करना चाहते हो, तो तुम्हें भी ईश्वर बनना ही होगा--'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—'ईश्वर की पूजा करने के लिए तुम्हें ईश्वर ही बनना पड़ेगा।' अपने को पापी सोचने से क्या लाभ ? तुम अनन्त हो। निरे अज्ञान के कारण स्वयं को सीमित समझ रहे हो। प्रत्येक व्यक्ति के पीछे वह अनन्तता विद्यमान है! तुममें अनन्त शक्ति छिपी हुई है। अतः अपने ऊपर संशय न करो। तुम जिस किसी मार्ग में जाओ, अवश्य सफल होगे। भक्तिपथ सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह सबसे स्वाभाविक है। जो ईश्वर तुम्हारे भीतर है, उसके प्रति भक्तिवान् बनो। तुम ईश्वर के सबसे प्रत्यक्ष मन्दिर हो। बाहर के मन्दिर तो भीतर के वास्तविक मन्दिर के स्मरण करानेवाले मात्र हैं।

जब तुम अपने मन से दुर्बल करनेवाले सभी विचारों को निकाल देना चाहते हो, तो अपने विचारों पर निगरानी रखना गलत नहीं है। यदि तुम्हें साँप काट ले और तुम 'नहीं,' 'नहीं' कहकर उसके विष को अस्वीकार कर दो, तो वह विष तुम पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। जो यह विश्वास करता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ, मैं ईश्वर की सन्तान हूँ,' वह यथासमय यह अनुभव कर लेता है कि मैं सचमुच ईश्वर की सन्तान हूँ।

(समाप्त)

प्रश्न-- गीता में निष्काम कर्मयोग की बात कही गयी है। बताया गया है कि बिना फल की कामना के कर्म करना चाहिए। यह कैसे सम्भव है ? फल की कामना बिना किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती।

--सुरेश पाण्डेय, कानपुर

उत्तर-- यह सही है कि फल का कामना के बिना कोई क्रिया नहीं होती--चाहे क्रिया अपने लिए हो चाहे दूसरे के लिए। तो फिर निष्काम कर्म का अर्थ क्या हुआ ? इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त का उपयोग करें--

एक लड़का है। परीक्षा पास आ गयी है। उसके पिता ने कहा है--यदि तुम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगे, तो तुम्हारे लिए विदेशी छात्रवृत्ति का प्रबन्ध कर दूँगा, जिससे तुम बाहर जाकर पढ़ सकोगे। पर यदि अच्छी तरह उत्तीर्ण न हो सके तो, यहीं तुम्हें कोई काम ढूँढ़ लेना होगा। लड़का पढ़ने बैठता है। दो-तीन पंक्तियाँ पढ़ता है कि मन पिता के शब्दों पर चला जाता है। सोचता है--वाह, विदेश में जाकर पढ़ने से क्या मजा आएगा, खूब सैर-सपाटे होंगे, मौज करेंगे, वहाँ से डिग्री लेकर लौटेंगे, तो बड़े घर में विवाह होगा, बढ़िया बँगला होगा, खूबसूरत पत्नी रहेगी, आदि आदि। फल के चिन्तन में लड़का डूब जाता है।

जब होश आया तो देखा कि आधा घण्टा से अधिक बीत गया और वह दो पंक्तियाँ भी ठीक से नहीं पढ़ पाया है। उसे अपने ऊपर झल्लाहट आती है। डर लगता है कि उसका ध्यान यदि पढ़ने में न लगा, तो परीक्षा में अच्छे नम्बर कैसे पाएगा। और यदि परीक्षा में अच्छे नम्बर उसे न मिले, तब तो भारत में ही रहकर कोई नौकरी खोजनी पड़ेगी। अच्छी नौकरी तो मिलने से रही। फिर बड़े घर में शादी भी न हो सकेगी। छोटे-मोटे मकान में रहना होगा। जिन्दगी एक किल्लत हो जायगी। और ऐसा सोचते सोचते उसका मन खराब हो जाता है। उसका 'मूड' बिगड़ जाता है। घड़ी की ओर देखता है। आधा घण्टा और निकल गया ! एक घण्टे में वह ठीक से दो तीन पंक्तियाँ भी नहीं पढ़ पाया। वह पढ़ना छोड़कर उठ जाता है और 'मूड' ठीक करने घूमने या 'पिक्चर' देखने निकल जाता है।

यह जीवन की वास्तविकता है। लड़का फल के चिन्तन में समय और शक्ति का दुरुपयोग कर बैठता है। यदि उसने इस समय और शक्ति का उपयोग पढ़ाई करने में किया होता, तो उसके कर्म की 'क्वालिटी' सुधरती। और यह तो ध्रुव सत्य है, कर्म का अटल नियम है कि जैसा कर्म, वैसा फल। तो, जब गीता कहती है कि बिना फल की कामना के कर्म करना चाहिए, तो इसका तात्पर्य यही है कि हम फल का चिन्तन इतना न करें कि हमारे कर्म की 'क्वालिटी' ही खराब हो जाय। हम कर्म की अपनी योजना बना लें, हमें किस लक्ष्य को पाना है इसे निर्धारित कर लें, और उसकी सिद्धि के लिए कूद पड़ें। फिर फल के वृथा चिन्तन में अपना समय और अपनी शक्ति न गँवाएँ। सारा समय, सारी शक्ति उस कर्म में लगा दें, और जब भी मन में फल का विचार उठे, उसे ईश्वरार्पित करने का प्रयास करें; मन में फल के लिए जो आग्रह, जो उत्कण्ठा होती है, उसे

प्रयासपूर्वक ईश्वर की इच्छा में निमज्जित करते रहें—यही निष्काम कर्मयोग की साधना है। यही बिना फल की कामना के कर्म करना है। तो, प्रारम्भ में फल की कामना रहेगी। पर हमारी साधना उसे ईश्वर के चरणों की ओर मोड़ती है। यह सधने पर फिर प्रत्येक कर्म ईश्वर की पूजा हो जाता है। साधक ईश्वर से कहता है--प्रभो ! तुम्हें और कोई फल तो मैं नहीं दे सका, अपने कर्म का यह फल ही तुम्हें देता हूँ, यह नैवेद्य ग्रहण करो। और जब हम इस भाव को लेकर कर्म करते हैं, तब हमारे भीतर की सम्भावनाएँ प्रकट होने लगती हैं। अतः निष्काम कर्मयोग हमारे कर्म की 'क्वालिटी' को सुधारकर उसे अधिक सम्भावना-युक्त तो करता ही है, साथ ही वह ऐसा रसायन भी पैदा करता है, जिससे कर्म का बन्धन हममें लग नहीं पाता।

●